(मोक्ष शास्त्र)

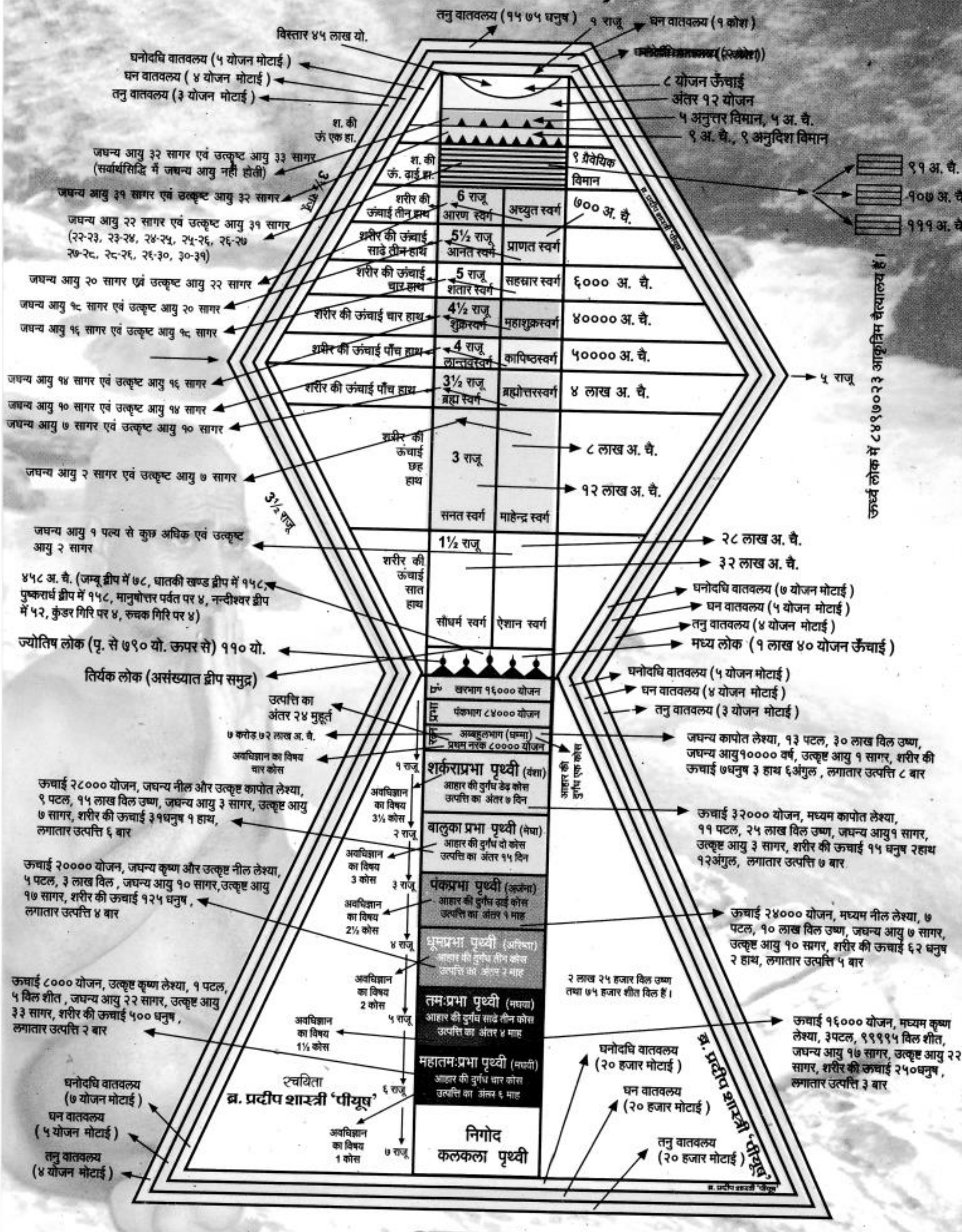

सम्पादन

साहित्याचार्य बाल ब्र. प्रदीप शास्त्री 'पीयूष'

आचार्य उमा स्वामी विरचित

तत्वार्थसूत्र

(मोक्षशास्त्र)

सम्पादन

साहित्याचार्य बाल ब्र. प्रदीप शास्त्री 'पीयूष' एम.ए.

910, संजीवनी नगर, गढ़ा, जबलपुर (म.प्र.)

फोन : 9826144654, 9424914146

सहयोग

प्रतिष्ठाचार्य पं. कोमल प्रसाद जैन, कोटा

5-ई. 23, तलवंडी, कोटा (राज.)

फोन नं. 0744-2471314, 2406535

प्रकाशन

श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति, बरेला जबलपुर

फोन : 0761-2890387, 2890487, 2890431, 2890481, 2890150

दशम् संस्करण - 4400 प्रतियाँ मूल्य- 20.00

- कृति : तत्त्वार्थ सूत्र (मोक्षशास्त्र)
- लेखक : आचार्य उमास्वामी महाराज
- सम्पादक : प्रदीप शास्त्री 'पीयूष'

  साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन संस्थान,
  910, संजीवनी नगर, गढ़ा जबलपुर (म.प्र.)
  फोन : 9826144654, 9424914146
- सहयोग : पं. कोमल प्रसाद जैन
- दशम् संस्करण : 2200 प्रतियाँ - 20-04-2010
- मूल्य : 20-00 रुपये मात्र
- प्रकाशक / प्राप्ति स्थान

✦ श्रीदिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति वरेला

✦ साहित्याचार्य डॉ. पं. पन्नालाल जैन संस्थान
910, संजीवनी नगर, गढ़ा जबलपुर (म.प्र.)
फोन : 9826144654, 9424914146,

✦ प्रदीप बुक स्टॉल/चाँदनी स्टेशनरी
शिन्दे की छावनी, लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.) फोन : 9301122330, 9754144552

✦ महेश चन्द जैन
30, सरलाबाग कॉलोनी, दयाल बाग के पीछे, आगरा फोन : 09359793508

✦ गुरुवर विद्यासागर जीव रक्षा केन्द्र
1202-बी, प्रथममंजिल, बहादुरगढ़रोड़, दिल्ली फोन:23542125, 9312211415

✦ ब्र० अनिल जैन एम.ए.एल.एल.बी.
उदासीन आश्रम, एम.जी रोड़, तुकोगंज, पलासिया, इन्दौर, 9425478846

✦ स्वतन्त्र जैन - रीना आयरन स्टोर
कोतवाली के पास, टीकमगढ़ (म.प्र.) फोन : 9424346034, 9893515871

✦ अरिहंत सीनियर हायर सैकेण्ड्री स्कूल
आर. के. पुरम, कोटा (राज.) फोन : 09413005814, 09414488691

✦ पं. रतनलाल बैनाड़ा
1/205, प्रोफेसर कालोनी, हरिपर्वत, आगरा फोन : 09412264445

✦ प्रकाश सिंघई
म.12 तेलियान गली, हनुमानगंज, भोपाल (म.प्र.) फोन : 0755-2536987

✦ प्राचीन आर्ष ग्रंथायतन
मंत्री - सुखमाल जैन, वीरनगर, सहारनपुर (उ.प्र.) फोन : 9358768884

✦ सुधासागर साहित्य केन्द्र
द्वारा - बाबूलाल सुमतकुमार जैन, मेनबाजार अशोकनगर, (म.प्र.) फोन:09425131920

अपनी बात ...

'तत्त्वार्थ सूत्र' अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' यह आचार्य उमास्वामी जी महाराज की अमर रचना है। जो थोड़े से पाठ भेद के साथ जैन - परम्परा के दोनों ही दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है और दोनों ही सम्प्रदायों के विद्वानों ने इस पर अनेकबड़ी-बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। उनमें दिगम्बर आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी की तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), श्री दिगम्बराचार्य अकलंकदेव की तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्त्तिक), श्री दिगम्बराचार्य विद्यानन्दजी की तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, श्री दिगम्बर श्रुतसागर जी की तत्त्वार्थवृत्ति ये चार टीकाएँ तो तत्त्वार्थसूत्र की विशाल, विशिष्ट और महत्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं।

आचार्य श्री उमास्वामी जी महाराज ने इस छोटी सी दशाध्यायात्मक अनूठी कृति में समस्त जैन तत्त्वज्ञान को संक्षेप में 'गागर में सागर' की तरह भरकर अपने विशाल और सूक्ष्मज्ञान भण्डार का परिचय दिया है। यही कारण है कि जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का बहुत अधिक महत्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दी सम्प्रदाय में गीता का है। इसमें करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का वर्णन बड़ी गम्भीरता से किया गया है।

इस ग्रंथ के रचयिता आचार्य श्री उमास्वामी महाराज विक्रम की पहली या द्वितीय शताब्दी के आचार्य हैं। संस्कृत भाषा का सूत्र रूप में यह प्रथम ग्रंथ है। इसके पूर्व आचार्यों के द्वारा प्राकृत भाषा में ग्रंथों का सृजन हुआ है।

आचार्य श्री उमास्वामी महाराज का तत्त्वार्थसूत्र ही एक ऐसा ग्रंथ है जो आज तक प्राथमिक जिज्ञासु से लेकर बड़े से बड़े जैन विद्वानों का ध्यान अविच्छिन्न रूप से अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हुआ है और आज भी जैनेतर जिज्ञासु के सामने यदि कोई ग्रंथ रखा जाने योग्य है तो वह 'तत्त्वार्थ सूत्र' ही है।

ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ का प्रकाशन श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति बरेला जबलपुर द्वारा हो रहा है। पंचम संस्करण को पुनः करणानुयोग के अनेक प्रश्नोत्तर एवं तीनों लोकों संबंधी जानकारी प्रश्नोत्तर के माध्यम से संवर्धित कर आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। विद्वद्गणों से निवेदन है कि सम्पादन में रही हुई त्रुटियों की जानकारी हमें अवश्य दें जिससे अगले संस्करण में सुधार हो सके।

साहित्याचार्य डॉ.पं. पन्नालाल जैन संस्थान — **ब्र. प्रदीप शास्त्री "पीयूष"**
910, संजीवनी नगर, जैन मंदिर के सामने, गढ़ा जबलपुर

श्री उमास्वामी का संक्षिप्त परिचय

तत्त्वार्थ सूत्र के प्रणेता श्री उमास्वामी के कुल और परिचय आज तक उपलब्ध नहीं हुए। परन्तु वृद्ध परम्पर से इतना अवश्य विदित हुआ है कि वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। आपके विद्यागुरु और दीक्षागुरु कौन थे ? यह भी अनिर्णीत है। कुछ शिलालेखों से यह अवश्य विदित हुआ है कि आप कोण्डकुण्ड (कुन्दकुन्द) आचार्य परम्परा के थे।

सिद्धरवस्ती के अन्तर्गत कौबेरी के स्तम्भ के लेख से विदित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द की शिष्य-मण्डली में उस समय उमास्वामी के समान अशेष पदार्थ का वेत्ता अन्य विद्वान् नहीं था।इससे कुछ ऐसा सम्भावित है कि आप आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे।

शिलालेखों से यह भी विदित होता है कि अनेक राजा महाराजाओं से आदृत और अनेक महर्द्धियों को प्राप्त बलाकपिच्छ आदि दिगम्बर जैन साधु आपके शिष्य थे।

श्री उमास्वामी स्वयं भी ऋद्धियों से सम्पन्न थे। आपके शरीर के स्पर्शमात्र से पवित्र पवन हलाहल विष को भी अमृत बना देता था। आप अपनी ऋद्धि के प्रभाव से आकाश में चला करते थे। नगर ताल्लुक के एक दिगम्बर शिलालेख नं. छयालीस पर उल्लिखित लेख से इस ग्रंथ के कर्त्ता का उमास्वाति नामान्तर भी प्रतीत होता है। इस प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में उमास्वामी और उमास्वाति नाम से आपकी ख्याति है।

एक बार मयूरपिच्छ गिर जाने पर प्राणीरक्षा की शुभभावना से आपने गृद्ध (गिद्ध) के पंखों से पिच्छी का काम चलाया था। जिससे आप 'गिद्ध पिच्छ' कहे जाने लगे थे। प्रथम शताब्दी के अन्त में या द्वितीय शताब्दी के प्रारंभ में आपने अपने शुभजन्म से इस भूतल को अलंकृत किया था।

समन्तभद्र स्वामी का अस्तित्व समय ईस्वी सं. १३८ में था। आपने उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र पर ८००० श्लोक प्रमाण गन्धहस्ति महाभाष्य नामक ग्रंथ की रचना की है। अतः यह सर्वविदित है कि उमास्वामी समन्तभद्र से पूर्व प्रथम शताब्दी के आचार्य हैं। श्री उमास्वामी की मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से है।

जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में तत्त्वार्थ सूत्र की भी एक मान्यता और आदर है दोनों सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्यों ने इस ग्रंथ के स्पष्टीकरण अनेक टीकाग्रंथ रचे हैं। जैसे - दिगम्बराचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने गन्धहस्ति महाभाष्य। दिगम्बराचार्य श्री

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि, दिगम्बराचार्य श्री भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक, दिगम्बराचार्य श्री विद्यानन्दिस्वामी ने श्लोक वार्तिकालंकार, दिगम्बराचार्य श्री भास्करनंदी ने भास्करी टीका, दिगम्बराचार्य श्री श्रुतसागराचार्य ने श्रुतसागरी टीका, द्वितीय दिगम्बराचार्य श्री श्रुतसागर ने तत्त्वार्थ - सुख बोधिनी टीका, गृहस्थाचार्य योगिदेव ने तत्त्वार्थवृत्ति, गृहस्थाचार्य लक्ष्मीदेव ने तत्त्वार्थ टीका और श्री अभयनन्दि सूरि ने एक टीका लिखी है।

प्रकृत ग्रंथ जैन साहित्य का प्रथम सूत्र ग्रंथ तो है ही, संस्कृत जैन साहित्य का भी यह आद्य गंथ है। उस समय तक जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही पाया जाता था तथा प्राकृत में ही नव साहित्य का सृजन होता था। इस ग्रंथ के रचयिता ने संस्कृत भाषा में ग्रंथ रचना का ओंकार किया और समस्त जैन सिद्धांत सूत्रों में निबद्ध करके गागर में सागर को भरने की कहावत चरितार्थ कर दिखाई।

आपका यह संकलन इतना सुसम्बद्ध और प्रामाणिक सिद्ध हुआ कि भगवान महावीर की द्वादशांग वाणी की तरह ही यह जैन दर्शन का आधार स्तम्भ बन गया। आचार्य प्रवर उमास्वामी का नाम 'तत्त्वार्थ सूत्र' की रचना के कारण अजर-अमर है। जैसे सनातन धर्म में गीता का, इस्लाम में बाईबिल का, मुसलमान में कुरान का जितना महत्व है उसी प्रकार जैन ग्रंथों में इसका स्थान है।

रचना के विषय में कहा गया है कि सौराष्ट्र प्रांत में उर्जयन्तगिरि के निकट गिरनार नगर में आसन्नभव्य, स्वहितार्थी, द्वैपायक नामक एक विद्वान् था। उसने 'दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र बनाया और एक पटिये पर अंकित कर दिया। चर्या से लौटने के बाद एक दिन श्रीगृद्धपिच्छाचार्य ('उमास्वामी मुनिराज') की दृष्टि उस पटिये पर पड़ी। तब आपने उस सूत्र में 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। जब वह द्वैपायक अपने घर आया और उसने उस सूत्र में 'सम्यक्' शब्द जुड़ा देखा। तब प्रसन्न होकर अपनी माता से पूछा कि किन महानुभाव ने यह शब्द जोड़ा है? माता ने उत्तर दिया कि एक दिगम्बर निर्ग्रन्थाचार्य ने यह शब्द जोड़ा है। तब वह उनको खोजता हुआ उनके समीप पहुँचा और भक्तिभाव से नम्रीभूत होकर उक्त मुनिराज से पूछने लगा आत्मा का हित क्या है? मुनिराज ने कहा - मोक्ष है। इस पर मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय पूछा गया जिसके उत्तर रूप में ही इस ग्रंथ का सृजन हुआ है। इसी कारण इस ग्रंथ का अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' भी है।

5.ई-23 तलवण्डी कोटा **पं. कोमल प्रसाद जैन**

संस्थान परिचय

पूज्य 105 क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी जी को जैन जगत् में सिरमौर की दृष्टि से देखा जाता है। उन्होंने ज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में जो अलख जगाई है, उस अलख को इस पंचम काल में शायद ही कोई पूरा कर सके। वाराणसी में संस्कृत महाविद्यालय खुलवाने के बाद आप उस विद्यालय के छात्र और शिक्षक के रूप में विख्यात हुए। कालान्तर में उन्होंने सागर, जबलपुर, खुरई, खतौली आदि बीसों नगरों में भी संस्कृत महाविद्यालयों की स्थापना कराई। सागर महाविद्यालय में अनेक मेधावी छात्रों का प्रवेश हुआ, जिन्हें वर्णी जी ने पढ़ाई की विशेष सुविधाएँ एवं अन्य पठन-सामग्री भी उपलब्ध कराईं, जिसके फलस्वरूप डॉ. पं. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य जैसे अनेक विद्वान् समाज को प्राप्त हुये, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता से समाज को एक नई दिशा प्रदान की।

सम्प्रति समूचे जैन जगत् में शताधिक से अधिक विद्वान्, वर्णी जी की शिष्य- परम्परा में जैन - जैनेत्तर समाज को नई दिशा प्रदान कर रहे हैं। अतीत में भी वर्णी जी के शिष्यों की एक अलग पहिचान थी। जिनमें (डॉ.) पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य जैसे अनेक विद्वान् समाज के सिरमौर बने।

साहित्याचार्य (डॉ.) पं. पन्नालाल जी का समर्पण

वर्णी जी की तरह ही पंडित जी ने भी जिस विद्यालय से शिक्षा प्राप्त की उस विद्यालय में ही अपना सारा जीवन लगा दिया। बावन वर्ष से भी अधिक का समय उन्होंने संस्कृत महाविद्यालय सागर को दिया, जहाँ अध्यापक से प्राचार्य तक के अनेक पदों पर सुशोभित हुये। शनैः शनैः उनकी शिक्षण- प्रणाली पर उन्हें अनेक राष्ट्रीय और सामाजिक पुरस्कार प्राप्त हुए। जिनमें सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार राष्ट्रपति पुरस्कार है जो उन्हें सन् 11.11.1969 में तात्कालिक राष्ट्रपति श्री व्ही. व्ही. गिरी जी के हाथों प्राप्त हुआ था।

पण्डित जी का योगदान :

साहित्याचार्य (डॉ.) पं. पन्नालाल जी द्वारा शताधिक संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद, संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन एवं सम्पादन का कार्य सम्पन्न हुआ है। जिनमें आदिपुराण, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण आदि अनेक ग्रन्थ सम्प्रति हमारे मध्य उपलब्ध हैं।

सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर की पावन भूमि पर जहाँ आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ससंघ विराजमान थे। आष्टाह्निक महापर्व चल रहे थे। चतुर्दशी की अर्धरात्रि में 9 मार्च 2001 को सबके श्रद्धेय, विद्वद्रत्न जिनवाणी के लघुनंदन साहित्याचार्य (डॉ.) पं. पन्नालाल

जी इस नश्वर देह का परित्याग कर दिवंगत हो गये। समूचा जैन समाज उनके दिवंगत होने के समाचार को सुनकर स्तब्ध रह गया। अनेक लोगों के सिर पर से करुणा और सहजता की छाया समाप्त हो गई।

पण्डित जी की सेवाएँ और जिनवाणी के प्रति किया गया उनका श्रम कहीं उनके नश्वर शरीर के साथ ही समाप्त न हो जाये अतः संस्कारधानी जबलपुर में ''साहित्याचार्य (डॉ.) पं. पन्नालाल जैन ग्रन्थमाला'' की स्थापना की गई। जिसके द्वारा एक त्रिमासिक पत्रिका ''श्रुतदर्पण'' को प्रारम्भ किया गया। उस के **''साहित्याचार्य (डॉ.) पं. पन्नालाल विशेषांक''** सहित आठ अंक प्रकाशित हो चुके हैं।

पण्डित जी के प्रति समर्पण भावों ने एक नये आयाम का सृजन किया और ''उनतालीस सदस्यीय''सक्रिय कार्यकर्ताओं द्वारा ''साहित्याचार्य (डॉ.) पं. पन्नालाल जैन संस्थान जबलपुर'' की स्थापना की गई।

सम्प्रति 17.02.06 को सागर नगर के मुख्य मार्ग पर पण्डित जी की प्रतिमा को स्थापित किया गया एवं उस मार्ग का नामकरण **''साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल मार्ग''** रखा गया।

संस्थान की कार्य प्रणाली :

संस्थान द्वारा ग्रीष्मकालीन सत्र में या अन्य समयों पर बृहद् स्तर पर ''श्री सम्यग्ज्ञान विद्या शिक्षण शिविर'' का आयोजन नगर-नगर में किया जाता है। पर्युषण पर्व अथवा अन्य धार्मिक प्रसंग पर भी संस्थान से विद्वान् उपलब्ध होते रहते हैं। यदि आप भी अपने नगर या ग्राम में शिक्षण शिविर लगवाना चाहते हैं या विधान आदि धार्मिक अनुष्ठान के लिये विद्वान् चाहिये हो तो अविलम्ब विद्वान् हेतु सम्पर्क करें।

संस्थान की आगामी योजना :

संस्थान के लिये संजीवनी नगर गढ़ा, जबलपुर में 2400 वर्ग फुट भूमि का चयन किया गया है। जिसमें भू-तल में दस कमरे, पहली मंजिल पर 12 कमरे तथा दूसरी मंजिल पर प्रवचन हॉल का निर्माण कार्य सम्पन्न हो गया है। संस्थान का शुभारम्भ 20 जुलाई 04 को **''ब्रह्मचारी आश्रम एवं गुरुकुल''** के रूप में प्रारम्भ हो गया है जिसमें सम्प्रति ब्रह्मचारी भाई एवं छात्र गण अध्ययन रत हैं। सभी ब्रह्मचारी भाइयों को सभी सुविधाएं आपके सहयोग से निःशुल्क उपलब्ध कराई जाती हैं। यदि आप चाहते हैं कि ब्रह्मचारी भाइयों एवं छात्र गणों को सभी सुविधाएं उपलब्ध हो सके तो आप अपना सहयोग आहारदान,

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की जीवन झाँकी

पूर्वनाम	:	विद्याधर
जन्म	:	१० अक्टूबर १९४६ (शरद पूर्णिमा)
जन्मस्थान	:	सदलगा जिला बेलगाँव (कर्नाटक)
पिता	:	श्री मलप्पा जी (समाधिस्थ १०८ मुनि श्री मल्लिसागर जी महाराज)
माता	:	श्रीमती श्रीमती जी (समाधिस्थ आर्यिका समयमति जी)
ब्रह्मचर्यव्रत	:	१९६७ में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से
मुनि दीक्षा	:	३० जून १९६८ आचार्य श्री ज्ञानसागर जी से (अजमेर में)
आचार्य पद	:	२२ नवम्बर १९७२
शिक्षा	:	हाई स्कूल (कन्नड माध्यम से)
कृतित्व	:	नर्मदा का नरम कंकड, डूबोमत ⁄ लगाओ डुबकी, तोता क्यों रोता (काव्यसंग्रह), चेतना के गहराव में (सचित्र प्रतिनिधी काव्य संकलन)मूकमाटी(महाकाव्य) छः संस्कृत शतक,(पांच प्रकाशित और एकअप्रकाशित) सात हिन्दी शतकों के अतिरिक्त अनेक जैन ग्रंथों का पद्यानुवाद तथा हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड, बंगला आदि में स्फुट रचनाएँ भी ।
संयमी सृजन	:	बाल ब्रह्मचारी ७९ मुनि, बाल ब्रह्मचारिणी १६६ आर्यिकायें, बाल ब्रह्मचारी ६ ऐलक, बाल ब्रह्मचारी ५ क्षुल्लक, १५० बालब्रह्मचारिणी बहनें, ५० बाल ब्रह्मचारी भाई, समाधि प्राप्त लगभग-३० (मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका)

परिचय के गवाक्ष से

नाम	: बाल ब्र. जैन, प्रदीप कुमार "पीयूष"
जन्म	: 3-8-1967
जन्मस्थान	: ग्वालियर (म.प्र.)
शिक्षा	: साहित्याचार्य एवं एम. ए. (संस्कृत)
पिता का नाम	: सेठ श्री टीकाराम जैन नायक (जैसवाल)
माता का नाम	: श्रीमती बादामीबाई जैन
ब्रह्मचर्य व्रत	: 1-6-1987
भाई तीन बड़े	: महेशचन्द जैन, सुरेशचन्द जैन, भगवानदास जैन
बहिन तीन बड़ी	: हेमलता जैन, सुमन जैन, प्रभा जैन
हिन्दी अनुवाद	: कातन्त्र-रूपमाला, जैनेन्द्रलघुवृत्ति, जैनेन्द्रमध्यवृत्ति (तीनों व्याकरण)
संयोजन	: जिन-भारती संग्रह (जिनवाणी संग्रह), नित्य-पूजा, जिन-पूजा, जिन-अर्चना, धर्म-ध्यान, तत्वार्थ-सूत्र, द्रव्य-संग्रह, छहढाला, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, पञ्च-अमृत, समयसार, इष्टोपदेश, सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर-प्रदीप भाग-1-2-3-4, तिलोयपण्णती, सिद्धचक्र विधान, इष्टोपदेश, दसधर्मस्कन्ध, कल्पद्रुम विधान, भक्तामर स्तोत्र, कथा तीर्थंकरों की, इत्यादि लगभग-120 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति बरेला

गौरव सदस्य

१. ब्र. पं. श्री रतनलाल शास्त्री, इन्दौर
२. ब्र. श्री संजय जैन (संघस्थ मुनि श्री सुधासागर जी)
३. श्री जीवन दादा पाटील, (महाराष्ट्र)
४. बाबा ब्र. श्री नेमिचन्द जैन, कोटा
५. पं. श्रीकोमल प्रसाद जैन, कोटा
६. प्रति. पं. श्रीगुलाब चन्द्र जी पुष्प टीकमगढ
७. पं. श्रीनरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद
८. पं. श्रीश्रेयांस कुमार, दिवाकर, सिवनी
९. डॉ. श्रीभागचन्द्र जैन, भागेन्दु, दमोह
१०. पं. श्री सुरेश जैन सरल, जबलपुर
११. पं. श्रीनेमीचंद्र जैन, जबलपुर
१२. डॉ. श्रीनेमीचंद जैन, खुरई (सागर)
१३. पं. श्री खेमचन्द्र शास्त्री, सागर
१४. श्री अजित प्रसाद जैन, दिल्ली
१५. श्री सुनील जैन, शालीमार बाग, दिल्ली
१६. श्री रामकुमार जैन पीतमपुरा, दिल्ली
१७. श्री योगेश जैन पीतमपुरा, दिल्ली
१८. श्री करेश जैन, दिल्ली
१९. श्रीमती प्रतिभा जैन, मुम्बई
२०. श्री सेठ डालचंद जैन, सागर
२१. श्री पं. इन्द्रसेन जैन, सहारनपुर
२२. डॉ. श्री अनुज जैन, देवबन्द
२३. श्री प्रमोदकुमार जैन, ठेकेदार देवबन्द
२४. पं. रमेश चन्द जैन, तलोद (गुजरात)
२५. नरेन्द्र कुमार डाह्यालाल शाह (जैन), मुम्बई
२६. श्री प्रो. रतनचंद जैन, भोपाल
२७. श्रीमति सुषमा जैन, व्ही.एच., जबलपुर
२८. श्री राजेश जैन, शिवनगर
२९. श्री परमानन्द जैन, इंजीनियर, जबलपुर
३०. स्व.केशवलाल हलकचन्द्रशाह,तलोद(गुजरात)
३१. श्री विमलचंद जैन, रामपुर (यू.पी.)
३२. जयन्ती लाल कोदरलाल शाह,तलोद(गुजरात)
३३. शाहविपिनभाई,मुकेशभाई,परेसभाई तलोद
३४. श्री सतीश सिंघई, नागपुर
३५. जैन समाज, जगदलपुर, छत्तीसगढ
३६. श्रीमती लक्खी जैन, ध.प. श्रीहरीशचंद्र जैन
३७. श्री सुनील कुमार जैन, जगदलपुर
३८. श्री रिषभ कुमार जैन, जगदलपुर
३९. श्री कष्ण कुमार जैन, जगदलपुर
४०. श्री डॉ. सुनील जैन, डिण्डौरी
४१. श्री संतोष कुमार जैन, जगदलपुर
४२. श्री सुन्दरलाल जैन, बीड़ी वाले, इन्दौर
४३. श्री अजित कुमार जैन, अधिवक्ता, पटना
४४. श्री राधेलाल जैन, धुर्रा, अशोक नगर
४५. श्री राजकुमार जैन, जगदलपुर
४६. श्रीमती चंपादेवी जैन, जगदलपुर
४७. श्री केवल चंद संजय कुमार जैन, जगदलपुर
४८. श्री नाथूराम सुरेन्द्र कुमार जैन, जगदलपुर
४९. श्रीमती इन्दु जैन, ध.प. श्री राजेन्द्र कुमार जैन
५०. श्री अमरचन्द जैन, कोतमा (शहडोल)
५१. श्री विमल कुमार जैन, मिर्जापुर (उ.प्र.)
५२. श्री अनिल कुमार जैन, मिर्जापुर (उ.प्र.)
५३. डॉ. श्रीमती मीना जैन, मिर्जापुर (उ.प्र.)
५४. श्री अखलेश कुमार जैन, देवबन्द (उ.प्र.)
५५. श्री प्रवीनकुमार नवीनकुमार जैन, देवबन्द (उ.प्र.)
५६. श्री महेशचंद्र अजयकुमार जैन, देवबन्द (उ.प्र.)
५७. श्री महेशकुमार रजनीशकुमार जैन, देवबन्द (उ.प्र.)
५८. श्री विजेन्द्रकुमार अमितकुमार जैन, देवबन्द
५९. श्रीमती विनोद जैन, मुख्य प्रवक्ता, बड़ौत (उ.प्र.)
६०. रश्मिजैन, ध.प.श्री विजयकुमारजैन, कमलानगर आगरा
६१. श्री दिलीप जैन, राजीवकुमारजैन, कमलानगर आगरा
६२. श्री चन्दाबाबूजैन, मनोजकुमारजैन, कमलानगर आगरा
६३. श्री लखपतसिंह जैन, कमलानगर आगरा
६४. श्रीमति पिस्तादेवी जैन, ध.प. श्री लालचन्दजैन, एटा
६५. सुधा जैन, ध.प. श्री खेमचन्दजैन, कमलानगर आगरा
६६. सिंघई श्री शिखरचंद जैन, कमलानगर आगरा
६७. श्री विजय कुमार जैन, कमलानगर आगरा
६८. श्री प्रदीप कुमार जैन, पी.एन.सी. कमलानगर
६९. श्रीमती रेनू जैन, कमलानगर आगरा

समर्पण

जो तीर्थंकर महावीर की
परम्परा के
समुज्ज्वल नक्षत्र हैं,
जिनका अद्‌ भुत जीवन
अध्यात्म की पवित्र प्रेरणा
- प्रदान करता है,
जिनके विचार भूले भटके
जीवन राहियों का
पथ-प्रदर्शन करते हैं,
उन्हीं श्रद्धालोक के देवता,
संत शिरोमणी
परमपूज्य आचार्य गुरूवर
श्री विद्यासागर जी महाराज
के ब्यालीसवें सयंमहोत्सव
वर्ष की पावन बेला में
उनके पवित्र कर कमलों में
सादर
सविनय
समर्पित...।

श्री उमास्वामी विरचित

मोक्ष शास्त्र

(तत्त्वार्थ सूत्र सार्थ)

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपद - सहितं जीव षट्काय- लेश्याः,
पञ्चान्ये चास्तिकाया, व्रतसमितिगति - ज्ञानचारित्रभेदाः ।
इत्येतन्मोक्ष - मूलं, त्रिभुवन - महितैः प्रोक्त - मर्हद्भिरीशैः,
प्रत्येति श्रद्धधाति, स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ।।

अर्थ - तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छह काय, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, गति,पाँच ज्ञान और पाँच चारित्र भेद रूप ये सब मोक्ष के मूल हैं, ऐसा तीनों लोकों के पूज्य अर्हन्त भगवान् के द्वारा कहा है। जो बुद्धिमान इनकी प्रतिति करता है, श्रद्धान करता है और स्पर्श करता है। इनके नजदीक जाता है वह निश्चय से शुद्धदृष्टि है।

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते।
वंदित्ता अरहंते, वोच्छं आराहणा कमसो।।

अर्थ - जगत में प्रसिद्ध ज चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार करके क्रम से आराधना को कहूँगा।

उज्जोवणमुज्जवणं, णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसण - णाण - चरित्तं, तवाणमाराहणा भणिया।।

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्व के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहा है।

प्रथम अध्याय

मोक्ष - मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।

अर्थ - मोक्षमार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले और समस्त तत्त्वों के जानने वाले भगवान् को उनके गुणों की प्राप्ति के लिये मैं (आचार्य उमास्वामी) उनकी वन्दना करता हूँ।

भावार्थ - जो मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं उन्हें नेता या हितोपदेशी कहते हैं। जो कर्मों को नष्ट करते हैं उन्हें भेतृ या वीतरागी कहते हैं। जो समस्त तत्त्वों को जानते हैं उन्हें ज्ञातृ या सर्वज्ञ कहते हैं। ये तीनों गुण सच्चे देव में पाये जाते हैं।

जैन दर्शन की विशेषता - जैन दर्शन में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न कर गुणों को नमस्कार किया जाता है। अत: मंगलाचरण में आचार्य महाराज ने सच्चे देव के गुणों को आधार बनाकर नमस्कार किया है।

मोक्ष की प्राप्ति का उपाय

सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्राणि मोक्षमार्ग: ।।१।।

अर्थ - (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय (मोक्षमार्ग:) मोक्ष का मार्ग है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

विशेषार्थ - संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जीवादि पदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

कषाय, पाप और व्यसन आदि संसार के कारणों से विरक्त होंते हुये देवपूजा आदि शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना तथा हिंसादि अशुभ क्रियाओं से निवृत होना सम्यक्चारित्र कहलाता है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थ - श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।।२।।

अर्थ - (तत्त्वार्थश्रद्धानम्) तत्त्व-वस्तु के स्वरूप सहित अर्थ-तत्त्वों या पदार्थों का श्रद्धान (सम्यग्दर्शनम्) सम्यग्दर्शन (अस्ति) है।

विशेषार्थ - जीव आदि तत्त्वों के स्वरूप का निश्चय तत्त्वार्थ है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु वा भेद

तन्-निसर्गादधिगमाद् वा।।३।।

अर्थ - (तत्) वह सम्यग्दर्शन (निसर्गात्) स्वभाव से (वा) अथवा (अधिगमात्) पर के उपदेश आदि से (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ - सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा दो भेद होते हैं - निसर्गज और अधिगमज।

निसर्गज-जो सम्यग्दर्शन उपदेश आदि के बिना स्वभाव से ही प्राप्त होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज- जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश आदि से प्राप्त होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विशेषता :- इन दोनों ही सम्यग्दर्शनों में सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम का होना आवश्यक है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को अधिगमज पूर्वक ही सम्यग्दर्शन होता है। सादि मिथ्यादृष्टि जीव को निसर्गज और अधिगमज पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है।

तत्त्वों के नाम या भेद

जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्।।४।।

अर्थ - (जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षा:) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात (तत्त्वम्) तत्त्व (सन्ति) हैं।

जीव - जिसमें चेतना (ज्ञान दर्शन की शक्ति) होती है उसे जीव कहते हैं।

अजीव - जिसमें चेतना नहीं होती उसे अजीव कहते हैं।

आस्रव - कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं ।

बन्ध - आत्मा के प्रदेशों और कर्म परमाणुओं के परस्पर मिल जाने को बंध कहते हैं।

संवर - आस्रव के रुकने को संवर कहते है।

निर्जरा - कर्मों का एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते है।

मोक्ष - समस्त कर्मों का क्षय होने को मोक्ष कहते है।

तत्त्वों और रत्नत्रय के व्यवहार या ज्ञान के कारण

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्-तन्न्यास: ।।५।।

अर्थ- (नामस्थापनाद्रव्यभावत:) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से (तत्) उन सातों तत्त्वों और रत्नत्रय का (न्यासः) निक्षेप या लोकव्यवहार (भवति) होता है।

निक्षेप- प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित हुये लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

निक्षेप के चार भेद हैं। नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप।

नामनिक्षेप- गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के बिना लोकव्यवहार के लिये किसी का कोई नाम रखने को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम 'इन्द्र' रखा। किन्तु उस पुत्र में इन्द्र का कोई गुण नहीं होता। अत: वह पुत्र नाममात्र से इन्द्र है, वास्तव में इन्द्र नहीं।

स्थापनानिक्षेप- धातु, काष्ठ, पाषाण आदि के चित्र या मूर्ति तथा अन्य पदार्थ में 'यह वह है' इस प्रकार मान्यता स्थापना निक्षेप है।

स्थापना- दो प्रकार की होती है - तदाकार और अतदाकार।

तदाकार- तदाकार उसी आकारवान् में उसी आकारवान की मान्यता तदाकार स्थापना कहलाती है। जैसे इन्द्रकार मूर्ति में इन्द्र की मान्यता।

अतदाकार- भिन्न आकारवान् पदार्थ में भिन्न आकारवान् की मान्यता अतदाकार स्थापना कहलाती है। जैसे शतरंज की गोटों (मोहरों) में घोड़ा और हाथी वगैरह की मान्यता।

द्रव्यनिक्षेप- भूत और भविष्यत् पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे इन्द्र की मूर्ति बनाने के लिये जो पाषाण या काष्ठ लाया गया है उसे इन्द्र कहना या मुनीमी छोड़ देने पर भी किसी को मुनीम कहना।

भावनिक्षेप- वर्तमान पर्याययुक्त वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे देवों के स्वामी साक्षात् इन्द्र को इन्द्र कहना।

प्रश्न - नाम निक्षेप और भाव निक्षेप में क्या अन्तर है।

उत्तर - नामनिक्षेप में पूजा या सम्मान नहीं होता किन्तु स्थापना निक्षेप में पूजा या सम्मान होता है यही इन दोनों में अन्तर है।

तत्त्वों और रत्नत्रय के जानने के उपाय

प्रमाण-नयै-रधिगमः ॥६॥

अर्थ- तत्त्वों और रत्नत्रय का (अधिगम:) ज्ञान (प्रमाणनयै:) प्रमाणों और नयों

से (भवति) होता है।

प्रमाण - जो ज्ञान वस्तु के सर्वदेश को जानता है, उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अथवा सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

प्रमाण के दो भेद हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष- जो ज्ञान किसी दूसरे (इन्द्रियादिक) की सहायता बिना पदार्थ को स्पष्ट जानता है उस ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

परोक्ष- जो ज्ञान इन्द्रिय और प्रकाश आदि की सहायता से पदार्थ को अस्पष्ट जानता है उस ज्ञान को परोक्षप्रमाण कहते हैं।

नय- वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। इन दोनों नयों के उत्तर भेद सात हैं। नय के दो भेद हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक- जो नय द्रव्य को जानता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय ये तीनों द्रव्यार्थिक नय हैं।

पर्यायार्थिक- जो नय पर्याय को जानता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरुढ़नय और एवंभूतनय ये चारों पर्यायार्थिक नय हैं।

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के अन्य उपाय

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः ॥७॥

अर्थ- निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह अनुयोगों (विधियों) के द्वारा भी तत्त्वों और रत्नत्रय का ज्ञान या लोकव्यवहार होता है।

निर्देश - वस्तु के स्वरूप या नाम के कथन को निर्देश कहते हैं।

स्वामित्व- वस्तु के स्वामी पने को स्वामित्व कहते हैं।

साधन - वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं।

अधिकरण - वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

स्थिति - वस्तु के ठहरने के काल की मर्यादा को स्थिति कहते हैं।

विधान - वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं।

विशेष - जब किसी वस्तु का ज्ञान करना हो या कराना हो तो इसके लिये निम्न प्रश्न किये जाते हैं।

यथा - १- उस वस्तु का नाम क्या है। २- उसका स्वामी कौन है। ३- वह किन साधनों से बनी है। ४- वह कहाँ रखी रहती है। ५- उसकी कालमर्यादा कितनी

है। ६- और उसके कितने भेद हैं। इन छह बातों का ज्ञान करना-कराना आवश्यक है। इतनी बातें जान लेने पर उस वस्तु का पूर्ण ज्ञान समझा जाता है। आगम में ये छह अनुयोग द्वार कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन में निर्देशादि को क्रमशः दर्शाते हैं।

(१) प्रश्न - सम्यग्दर्शन क्या है ?

उत्तर- 'जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' ऐसा कथन करना निर्देश है।

(२) प्रश्न - सम्यग्दर्शन किसके होता है ?

उत्तर- सामान्य से जीव के होता है।

(३) प्रश्न - सम्यग्दर्शन के साधन क्या हैं ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन के साधन दो हैं - अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है।

बाह्य साधन इस प्रकार हैं - नारकियों के तीसरे नरक तक तीन कारण हैं - जातिस्मरण, धर्मश्रवण, और वेदनाभिभव। चौथे से लेकर सातवें नरक तक दो कारण हैं - जातिस्मरण और वेदनाभिभव।

मनुष्य और तिर्यञ्च के तीन कारण हैं- जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन।

देवों के बारहवें स्वर्ग तक चार कारण हैं- जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमा दर्शन और देवऋद्धिदर्शन।

तेरह से सोलह स्वर्ग तक तीन कारण हैं - जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनमहिमादर्शन।

नौ ग्रेवेयिक के देवों के दो कारण हैं - जातिस्मरण और धर्मस्मरण।

अनुदिश और अनुत्तर विमानों में रहने वाले देवों के यह कल्पना नहीं है क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टी जीव ही उत्पन्न होते हैं।

(४) प्रश्न - सम्यग्दर्शन का अधिकरण क्या है ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन के अधिकरण दो हैं - अभ्यन्तर और बाह्य।

अभ्यन्तर अधिकरण- जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है। बाह्य अधिकरण-लोक नाड़ी है।

शंका- वह लोकनाड़ी कितनी बड़ी है ?

समाधान- एक राजू चौडी और चौदह राजू लम्बी है।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन की स्थिति कितनी है ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन की स्थिति- औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की संसारी जीव के जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम है। मुक्त जीव के आदि- अनन्त है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागरोपम है।

(६) प्रश्न - सम्यग्दर्शन के कितने भेद हैं ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन के भेद की अपेक्षा सामान्य से एक है। निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है।

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के उपायान्तर

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प-बहुत्वैश्च ॥८॥

अर्थ- सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी तत्त्वों और रत्नत्रय का ज्ञान या लोकव्यवहार होता है।

सत् - वस्तु के अस्तित्व (मौजूदगी) को सत् कहते हैं।

संख्या- वस्तु के भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं।

क्षेत्र- वस्तु के वर्तमान निवास स्थान को क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन - वस्तु के तीनों कालों सम्बन्धी निवास स्थान को स्पर्शन कहते हैं।

काल- वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं।

अन्तर- वस्तु के विरहकाल को अन्तर कहते हैं।

भाव- औपशमिक और क्षायिक आदि परिणामों को भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्व – अन्य पदार्थ की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता के वर्णन को अल्पबहुत्व कहते हैं।

सम्यग्दर्शन में सत् आदि को क्रमशः दर्शाते हैं।

सत्- सम्यक्त्व आत्मा का धर्म है इसलिए वह शक्ति की अपेक्षा सब जीवों के पाया जाता है, पर वह भव्य जीवों में ही प्रकट होता है।

संख्या- सम्यग्दृष्टि कितने हैं इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की संख्या बतलाई

जाती है। संसार में सम्यग्दृष्टि पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और मुक्त सम्यग्दृष्टि अनन्त हैं।

क्षेत्र- सम्यग्दृष्टि जीव लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में पाये जाते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग हुआ। पर केवलिसमुद्घात के समय यह जीव सब लोक को भी व्याप्त कर लेता है, इसलिए सम्यग्दर्शन का सर्वलोक क्षेत्र भी प्राप्त होता है।

स्पर्शन- सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का, त्रस नाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग प्रमाण क्षेत्र का और सयोगकेवली की अपेक्षा सर्वलोक क्षेत्र का स्पर्शन किया है।

काल- एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का काल सादि-सान्त और सादि अनन्त दोनों प्रकार का प्राप्त होता है, परन्तु नाना जीवों की अपेक्षा वह अनादि-अनन्त है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा पाये जाते हैं।

अन्तर- नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण है।

भाव- सम्यग्दृष्टि यह औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव है।

अल्पबहुत्व- औपशमिक सम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं। उनसे संसारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। उनसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। उनसे मुक्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि अनन्तगुणे हैं।

सम्यग्ज्ञान के भेद या नाम

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्॥९॥

अर्थ- (मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि) मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये पांच (ज्ञानम्) ज्ञान (सन्ति) हैं।

मतिज्ञान- इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान- मतिज्ञान से ज्ञात पदार्थ का जो विशेषरूप से ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा लिये हुये रूपी पदार्थ का इन्द्रियादिक की सहायता बिना जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनः पर्यय ज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुये परकीय मनोगत

रूपी पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान- सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

प्रमाण के भेद

तत् प्रमाणे ॥१०॥

अर्थ- (तत्) यह पांच प्रकार का ज्ञान (एव) ही (प्रमाणे) दो प्रमाणरूप (अस्ति) है।

प्रमाण - जो ज्ञान वस्तु के सर्वदेश को जानता है, उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अथवा सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं - परोक्ष और प्रत्यक्ष।

परोक्ष प्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

अर्थ- (आद्ये) आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (परोक्षम्) परोक्षप्रमाण (स्तः) हैं।

प्रत्यक्ष-मन्यत् ॥१२॥

अर्थ- (अन्यत्) शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष प्रमाण (सन्ति) हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

अर्थ- (मति) मति, (स्मृतिः) स्मृति, (संज्ञा) संज्ञा, (चिन्ता) चिन्ता और (अभिनिबोधः) अभिनिबोध (इति अनर्थान्तरम्) अन्य पदार्थ नहीं हैं, मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं। क्योंकि ये पांचों ही मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

मति - इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को मति कहते हैं। जैसे- 'वह देवदत्त'।

स्मृति- पहले जानी हुई वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं।

संज्ञा- वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। जैसे यह वही पुरुष है, जिसे पहले देखा था।

चिन्ता- व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। जैसे जहाँ-जहाँ धूम होता है

वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है।

अभिनिबोध- साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है। जैसे- कहीं धुआँ उठा देख कर यह जान लेना कि यहाँ अग्नि है।

ये सब मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं इसलिये निमित्त सामान्य की अपेक्षा सबको एक कहा है, परन्तु इन सब में स्वरूप भेद अवश्य है।

मतिज्ञान की उत्पत्ति के कारण

तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम्॥१४॥

अर्थ- (तत्) वह मतिज्ञान (इन्द्रिय) पांचों इन्द्रियों और (अनिन्द्रिय) मन के (निमित्तं) निमित्त से (जायते) होता है। अर्थात् पांच इन्द्रियों और मन ये छह मतिज्ञान के कारण हैं।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहेहावाय-धारणाः॥१५॥

अर्थ- मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

दर्शन- वस्तु की सत्ता मात्र के ग्रहण या सामान्य अवलोकन को दर्शन या दर्शनोपयोग कहते हैं। इसका विषय इतना सूक्ष्म होता है कि उदाहरण से नहीं समझाया जा सकता।

अवग्रह- दर्शन के बाद हुये शुक्ल कृष्ण आदि रूप विशेष के ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। जैसे - नेत्र से सफेद रूप को जानना अवग्रह है।

ईहा- अवग्रह से ज्ञात पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं। जैसे - यह सफेद रूप वाली वस्तु बगुला है या पताका ? ऐसी जिज्ञासा।

अवाय- विशेष चिह्नों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय होने को अवाय कहते हैं। जैसे - शुक्ल पदार्थ में पंखों का फड़-फड़ाना और उड़ना आदि चिह्न देखकर बगुले का निश्चय होना।

धारणा - निश्चित हुई वस्तु को कालान्तर में नहीं भूलने को धारणा कहते हैं।

अवग्रह आदि के विषयभूत पदार्थ

बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्॥१६॥

अर्थ- (सेतराणाम्) अपने प्रतिपक्षी एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव भेदों सहित (बहुबहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणाम्) बहु, बहुविध,

क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त और ध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों के (अवग्रहेहावाय-धारणा) अवग्रहादिक ज्ञान (जायन्ते) होते हैं। अथवा अवग्रह आदि से इन बारह पदार्थों का ज्ञान होता है।

बहु- बहुत वस्तुओं के ग्रहण को बहुज्ञान कहते हैं। जैसे - सेना या वन को एक समूह रूप में जानना।

एक- अल्प अथवा एक का ज्ञान अल्पज्ञान है। जैसे- एक मनुष्य या एक तृण का ज्ञान।

बहुविध- बहुत प्रकार की वस्तुओं के ग्रहण को बहुविधज्ञान कहते हैं। जैसे - सेना में हाथी, घोड़े वगैरह का तथा वन में आम, महुआ आदि भेदों का जानना।

एकविध- एक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान एकविध ज्ञान है। जैसे- एक सदृश गेहुओं का ज्ञान।

क्षिप्र- शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्रज्ञान है। जैसे-तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठकर बाहर की वस्तुओं को जानना।

अक्षिप्र- धीरे-धीरें चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना अक्षिप्रज्ञान है।

अनि:सृत- वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना अनि:सृतज्ञान है। जैसे जल में डूबे हुये हाथी की सूंड़ देखकर हाथी का ज्ञान।

नि:सृत- वस्तु के सम्पूर्ण भाग को देखकर होने वाला ज्ञान नि:सृतज्ञान है। जैसे जल से निकले हुये हाथी का ज्ञान।

अनुक्त- बिना कहे अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है।

उक्त- कहने पर जानना उक्तज्ञान है।

ध्रुव- बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुवज्ञान है।

अध्रुव- चंचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुव ज्ञान है।

बहुविध आदिक किसके विशेषण हैं।

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ- ये बहु, बहुविध आदि बारह भेद पदार्थ (द्रव्य) के हैं।

अर्थात् बहु-बहुत से पदार्थ। बहुविध-बहुत प्रकार के पदार्थ। इस तरह बारह भेद पदार्थ के विशेषण हैं। तात्पर्य- बहु आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थ के ही अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं।

अवग्रहज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

अर्थ- (व्यञ्जनस्य) अस्पष्ट शब्द वगैरह पदार्थों का (अवग्रह:) केवल अवग्रह ज्ञान (जायते) होता है। ईहा आदि तीन ज्ञान नहीं होते।

विशेषार्थ- अवग्रह के दो भेद हैं- व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह।

अर्थावग्रह- स्पष्ट पदार्थ के ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं।

व्यञ्जनावग्रह- अस्पष्ट पदार्थ के ज्ञान को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। जैसे- कान में एक हल्की सी आवाज का मामूली सा भान होकर रह गया, इसके बाद फिर कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था ? ऐसी अवस्था में केवल व्यञ्जनावग्रह ही होकर रह जाता है। परन्तु धीरे-धीरे यह आवाज यदि स्पष्ट हो जाती है तो व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं। इसलिये अस्पष्ट पदार्थों का केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है। और स्पष्ट पदार्थों के चारों ज्ञान होते हैं।

व्यञ्जनावग्रह की विशेषता

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

अर्थ- (तत्) वह व्यञ्जनावग्रह (चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्) नेत्र और मन से (न भवति) नहीं होता। अर्थात् व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन इनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से ही होता है।

नोट- इस तरह १२ प्रकार का अवग्रह, १२ प्रकार का ईहा, १२ प्रकार का अवाय और १२ प्रकार का धारणा ज्ञान होता है। इस प्रकार १२ x ४ = मतिज्ञान के ४८ भेद हुये। तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पांचों इन्द्रियों और मन के द्वारा ही होता है। इसलिये ४८ को ६ से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८८ भेद हुये। इनमें व्यञ्जनावग्रह के १२ x ४ = भेद मिला देने से २८८+४८= ३३६ मतिज्ञान के भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान का स्वरूप या भेद

श्रुतं मति-पूर्वं द्व्यनेक-द्वादश-भेदम् ॥२०॥

अर्थ- (श्रुतम्) श्रुतज्ञान (मतिपूर्वम्) मतिज्ञानपूर्वक (जायते) होता है। तथा (च तत्) और वह श्रुतज्ञान (द्वि-अनेक-द्वादशभेदम्) दो, अनेक तथा बारह भेद वाला है।

विशेषार्थ- श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है। अर्थात् पहला श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट, इनमें से अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्ट के १२ भेद हैं।

शङ्का - अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत में क्या अन्तर है ?

समाधान- श्रुत के कुल अक्षर १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ माने गये हैं। इनमें मध्यम पद के १६३४८३०७८८८ अक्षरों का भाग देने पर११२८३५८०० मध्यम पद और ८०१०८१७५ अक्षर प्राप्त होते हैं। आचारांग आदि बारह अंगों की रचना उक्त मध्यम पदों द्वारा की जाती है इसलिये इनकी अंगप्रविष्ट संज्ञा है और शेष अक्षर अंगो के बाहर पड़ जाते हैं इसलिये इनकी अंगबाह्य संज्ञा है।यद्यपि इन अंगों और अंगबह्यों की रचना गणधर करते हैं। तथापि गणधरों के शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा जो शास्त्र रचे जाते हैं उनका समावेश अंगबाह्य श्रुत में ही होता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यश्रुत में यही अन्तर है। अन्य पदार्थ की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता के वर्णन को अल्पबहुत्व कहते हैं।

आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्त:कृतदशाङ्ग, अनुत्तरोत्पादकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्राङ्ग और दृष्टिप्रवाद ये १२ अङ्गप्रविष्ट के भेद हैं।

(१) आचाराङ्ग- आचारांग में चर्या का विधान, आठ शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि रूप से वर्णित है।

(२) सूत्रकृतांग- सूत्रकृतांग में ज्ञान-विनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य है, छेदोपस्थापनादि, व्यवहारधर्म की क्रियाओं का निरूपण है।

(३) स्थानाङ्ग- स्थानाङ्ग में एक-एक, दो-दो आदि के रूप से अर्थों का वर्णन है।

(४) समवायांग - समवायांग में सब पदार्थों की समानता रूप से समवाय का विचार किया गया है जैसे धर्म-अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के तुल्य असंख्यात प्रदेश होने से इनको द्रव्य रूप से समवाय कहा जाता है।

(५) व्याख्या प्रज्ञप्ति- व्याख्या प्रज्ञप्ति में 'जीव है कि नहीं' आदि साठ हजार प्रश्नों के उत्तर हैं।

(६) ज्ञातृधर्मकथा- ज्ञातृधर्मकथा में अनेक आख्यान और उपाख्यानों का निरूपण है।

(७) उपासकाध्ययनांग- उपासकाध्ययनांग में श्रावकधर्म का विशेष विवेचन किया गया है।

(८) अन्त:कृद्दशांग- अन्त:कृद्दशांग में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले उन दश-दश अन्तकृत् केवलियों का वर्णन है जिनने भयंकर उपसर्गों को सहन कर मुक्ति प्राप्त की है।

(९) अनुत्तरोत्पादिकदशांग- अनुत्तरोत्पादिकदशांग में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले उन दश-दश मुनियों का वर्णन है जिनने दारूण उपसर्गों को सहकर पांच अनुत्तर विमानों में जन्म लिया।

(१०) प्रश्न व्याकरणांग- प्रश्न व्याकरणांग में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

(११) विपाकसूत्रांग- विपाकसूत्र में पुण्य और पाप के विपाक का विचार है।

(१२) दृष्टिप्रवाद- दृष्टिप्रवाद में ३६३ मतों का निरूपण पूर्वक खण्डन है। इनमें से दृष्टिप्रवाद के पांच भेद हैं - परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म के पांच, पूर्वगत के चौदह और चूलिका के पांच हैं।

परिकर्म के पांच भेद - व्याख्याप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति।

(१) व्याख्याप्रज्ञप्ति- व्याख्याप्रज्ञप्ति पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव इन सबका वर्णन करता है।

(२) द्वीपसागर प्रज्ञप्ति- द्वीपसागर प्रज्ञप्ति नामक परिकर्म द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीपसागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है।

(३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति - जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदि पर्वत, द्रह नदी आदि का वर्णन करता है।

(४) सूर्य प्रज्ञप्ति - सूर्य प्रज्ञप्ति सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है।

(५) चन्द प्रज्ञप्ति - चन्द्र प्रज्ञप्ति चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है।

सूत्र और प्रथमानुयोग एक-एक ही हैं।

सूत्र - सूत्र नाम का अर्थाधिकार जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, इत्यादि रूप से ३६३ मतों का पूर्वपक्ष रूप से वर्णन करता है।

प्रथमानुयोग - प्रथमानुयोग पुराणों का वर्णन करता है।

पूर्वगत के १४ भेद - उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणानुवाद, प्राणानुवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दु।

(१) उत्पाद पूर्व - उत्पाद पूर्व में जीव पुद्गलादिका जहाँ जब जैसा उत्पाद होता है उन सबका वर्णन है।

(२) अग्रायणी पूर्व - अग्रायणी पूर्व में क्रियावाद आदि की प्रक्रिया और स्वसमय का विषय विवेचित है।

(३) वीर्यानुवाद - वीर्यानुवाद प्रवाद में छद्मस्थ और केवली की शक्ति, सुरेन्द्र असुरेन्द्र आदि की ऋद्धियाँ, नरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि की सामर्थ्य द्रव्यों के लक्षण आदि का निरूपण है।

(४) अस्तिनास्ति प्रवाद - अस्तिनास्ति प्रवाद में पाँचों अस्तिकायों का और नयों का अस्ति-नास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है।

(५) ज्ञानप्रवाद - ज्ञान प्रवाद में पाँचों ज्ञानों और इन्द्रियों का विभाग आदि निरूपण है।

(६) सत्य प्रवाद - सत्य प्रवाद पूर्व में वाग्गुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन प्रयोग बारह प्रकार की भाषाएँ, दस प्रकार के सत्य, वक्ता के प्रकार आदि का विस्तार से विवेचन है।

(७) आत्म प्रवाद - आत्म प्रवाद में आत्म द्रव्य का छह जीव निकायों का अस्ति-नास्ति आदि विविध भंगों का निरूपण है।

(८) कर्म प्रवाद - कर्म प्रवाद में कर्मों की बन्ध, उदय, उपशम आदि दशाओं का और स्थिति आदि का वर्णन है।

(९) प्रत्याख्यान प्रवाद - प्रत्याख्यान प्रवाद में व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि तथा मुनित्व में कारण द्रव्यों के त्याग आदि का विवेचन है।

(१०) कल्याणानुवाद पूर्व - कल्याणानुवाद पूर्व में सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपपादस्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव बासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याणकों का वर्णन है।

(११) विद्यानुवाद पूर्व - विद्यानुवाद पूर्व में समस्त विद्याएँ, आठ महानिमित्त, रज्जुराशिविध, क्षेत्र, श्रेणी, लोक प्रतिष्ठा, समुद्घात आदि का विवेचन है।

(१२) प्राणानुवाद पूर्व - प्राणानुवाद पूर्व में शरीर चिकित्सा आदि अष्टांग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिक क्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद प्रभेदों का विस्तार से वर्णन है।

(१३) क्रिया विशाल पूर्व - क्रियाविशाल पूर्व में लेखन कला आदि बहत्तर कलाओं का स्त्री सन्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्पकला का, काव्य संबंधी गुण-दोष विधिका और छन्द निर्माण कला का विवेचन है।

(१४) लोक बिन्दुसार - लोकबिन्दुसार में आठ व्यवहार, चार बीज, राशि परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुत सम्पत्ति का वर्णन है।

चूलिका के पाँच भेद - जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता और रूपगता।

(१) जलगता - जल में गमन, जल स्तंभन के कारण भूत मंत्र-तंत्र और तपश्चर्या रूप अतिशय आदि का वर्णन करती है।

(२) स्थलगता - पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारण भूत मंत्र, तंत्र दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है।

(३) मायागता - इन्द्रजाल आदि के कारण भूत मंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

(४) रूपगता - सिंह, घोड़ा और हरिण आदि के स्वरूप के आकार रूप से परिणमन करने के कारण भूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण तथा चित्र-काष्ठ-लेप्य-लेन कर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है।

(५) आकाशगता - आकाश में गमन करने के कारण भूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

अंग बाह्य के १४ भेद - (१) सामायिक, (२) चतुर्विंशति स्तव, (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण, (५) वैनयिक, (६) कृतिकर्म, (७) दशवैकालिकोंका, (८) उत्तराध्ययन, (९) कल्प्य व्यवहार, (१०) कल्प्याकल्प्य, (११) महाकल्प्य, (१२) पुण्डरीक, (१३) महापुण्डरीक, (१४) निषिद्धिका।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद या स्वामी

भव-प्रत्ययोऽवधिर्देव नारकाणाम्॥२१॥

अर्थ - (भवप्रत्यय:) भव प्रत्यय नामक (अवधि:) अवधिज्ञान (देवनारकाणाम्) देवों और नारकियों के (भवति) होता है।

विशेषार्थ - अवधिज्ञान के दो भेद हैं। भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक। क्षयोपशमनिमित्तक का दूसरा नाम गुण प्रत्यय भी है।

भवप्रत्यय - जिस अवधिज्ञान के उत्पन्न होने में भव (पर्याय) ही निमित्त

होता है, अन्य व्रत आदि कारण नहीं होते उसे भव प्रत्यय कहते हैं।

गुणप्रत्यय - जो अवधिज्ञान व्रत नियम आदि के द्वारा अवधि ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होता है उसे गुणप्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तक) अवधिज्ञान कहते हैं। भवप्रत्यय अवधि में भी अवधिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम रहता है। परन्तु वह देव तथा नरक पर्याय में नियम से प्रगट होता है। भव प्रत्यय अवधिज्ञान तीर्थंकर के भी होता है।

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के भेद या स्वामी

क्षयोपशम-निमित्तः षड् विकल्पः शेषाणाम्॥२२॥

अर्थ - (क्षयोपशमनिमित्त:) क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान (षड् विकल्प:) छह भेद वाला (अस्ति) है और वह (शेषाणाम्) मनुष्य तथा तिर्यंचों के (भवति) होता है।

विशेषार्थ - गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के तीन भेद होते हैं - देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देशावधिज्ञान के छह भेद हैं। अनुगामी अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

अनुगामी - जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह दूसरे भव या क्षेत्र में भी जीव के साथ बना रहता है उसे अनुगामी कहते हैं।

अनुगामी अवधिज्ञान के भेद- क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी, और क्षेत्रभवानुगामी।

क्षेत्रानुगामी - जो अवधिज्ञान एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर स्वत: या पर प्रयोग जीव के स्वक्षेत्र या परक्षेत्र में विहार करने पर विनष्ट नहीं होता है, वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है।

भवानुगामी - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीव के साथ अन्य भव में जाता है वह भवानुगामी अवधिज्ञान है।

क्षेत्रभवानुगामी - जो भरत ऐरावत और विदेह आदि क्षेत्रों में तथा देवनारक मनुष्य और तिर्यञ्च भव में भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान है।

नारकी, देव और तीर्थंकर इनका जो अवधि क्षेत्र है उसके भीतर ये सर्वांग से जानते हैं और शेष जीव शरीर के एकदेश से जानते हैं।

अननुगामी- जो अवधिज्ञान दूसरे भव या क्षेत्र में जीव के साथ नहीं जाता उसे अननुगामी कहते हैं।

क्षेत्र भव और क्षेत्रभाव ये तीनों भेद अननुगामी के भी जानना चाहिये।

वर्धमान - जो अवधिज्ञान शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह बढ़ता रहता है उसे वर्धमान कहते हैं।

हीयमान - जो अवधिज्ञान कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह घटता रहता है उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थित - जो अवधिज्ञान सूर्य या तिल के समान एकसा रहता है, न घटता है और न ही बढ़ता है उसे अवस्थित कहते हैं।

अनवस्थित - जो अवधिज्ञान हवा से जल की तरङ्गों की तरह घटता बढ़ता रहता है, एकसा नहीं रहता उसे अनवस्थित कहते हैं।

अवधिज्ञान- जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधि अर्थात् सीमा से युक्त अपने विषयभूत पदार्थ को जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

देशावधि और परमावधि के जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट ये तीन प्रकार हैं। सर्वावधि एक ही प्रकार का है।

परम अर्थात् असंख्यात लोकमात्र संयमभेद ही जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह "परमावधिज्ञान" कहा जाता है।

देश का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अवयव है। वह जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह "देशावधिज्ञान" है।

सर्व का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो जो अर्थ होता है, वह भी उपचार से सर्व कहलाता है। सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञान की होती है वह **"सर्वावधिज्ञान"** है।

परमावधि और सर्वावधि ये दोनों ज्ञान उसी भव से मोक्ष जाने वाले दिगम्बर तपस्वियों के ही होते हैं।

मन:पर्ययज्ञान के भेद

ऋजु-विपुलमती मन:पर्यय: ॥२३॥

अर्थ- (मन:पर्यय:) मन:पर्ययज्ञान (ऋजुविपुलमती) ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेदरूप (भवति) होता है।

ऋजुमति- त्रियोग की सरलता से स्पष्ट विचारे गये दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति कहलाता है।

विपुलमति- दूसरे के मन में गूढ़ अथवा जटिल रूप में स्थित रूपी पदार्थ को

जानने वाला ज्ञान विपुलमति कहलाता है।

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्-विशेषः ॥२४॥

अर्थ- (विशुद्धि-अप्रतिपाताभ्याम्) विशुद्धि और अप्रतिपात से (तद्विशेष:) ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता (विद्यते) है।

विशुद्धि- मन:पर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो उज्ज्वलता होती है उसे विशुद्धि कहते हैं।

अप्रतिपात - संयम परिणाम की वृद्धि होने से गिरावट का न होना अप्रतिपात कहलाता है।

ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। तथा ऋजुमति हो कर छूट भी सकता है, किन्तु विपुलमति केवलज्ञान होने तक बराबर बना रहता है।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में अन्तर

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्यययोः ॥२५॥

अर्थ- (अवधिमन:पर्यययो:) अवधि और मन:पर्ययज्ञान में (विशुद्धिक्षेत्र-स्वामिविषयेभ्य:) विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा (विशेष: भवति) विशेषता होती है।

विशेषार्थ- अवधिज्ञान अविशुद्ध, बड़ाक्षेत्र, अधिकस्वामी और स्थूल विषयवान् है। किन्तु मन:पर्ययज्ञान विशुद्ध, अल्पक्षेत्र, अल्पस्वामी और सूक्ष्म विषयवान है।

अवधिज्ञान से मन: पर्ययज्ञान विशुद्धतर है, क्योंकि मन:पर्ययज्ञान का विषय सूक्ष्म है। अवधिज्ञान का क्षेत्र सर्वलोक है परन्तु मन: पर्ययज्ञान का विषय ढाई द्वीप है। मन: पर्ययज्ञान प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक के उत्कृष्ट चारित्रगुण से युक्त दिगम्बर मुनिराजों के ही पाया जाता है। परन्तु अवधिज्ञान चारों गति के जीवों के होता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों के होता है।

मन:पर्यय ज्ञान छठे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान वर्ती दिगम्बर मुनिराजों को होता है। केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान व चौदहवें गुणस्थान वर्ती एवं सिद्धभगवान के होता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय

मति-श्रुतयो-र्निबन्धो-द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अर्थ- (मतिश्रुतयो:) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का (निबन्ध:) विषय सम्बन्ध (असर्वपर्यायेषु) सर्वपर्यायों से रहित (द्रव्येषु) द्रव्यों में (भवति) होता है।

विशेषार्थ- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूपी और अरूपी सभी द्रव्यों को जानते हैं। परन्तु उनकी कुछ-कुछ ही पर्यायों को जान पाते हैं, सब पर्यायों को नहीं।

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्ववधे: ॥२७॥

अर्थ- (अवधे:) अवधिज्ञान का (विषय:) विषय सम्बन्ध (रूपिषु) रूपी पदार्थों में (अस्ति) है। अर्थात् अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को ही जानता है।

मन: पर्ययज्ञान का विषय

तदनन्त-भागे मन:पर्ययस्य ॥२८॥

अर्थ- (मन:पर्ययस्य) मन:पर्ययज्ञान का (विषय:) विषय सम्बन्ध (तदनन्तभागे) सर्वावधिज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनन्तवें भाग में (अस्ति) है।

विशेषार्थ- सर्वावधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके अनन्तवें भाग को मन: पर्ययज्ञान जानता है। सारांश यह है कि मन:पर्ययज्ञान अवधिज्ञान से अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य को जानने की शक्ति रखता है।

केवलज्ञान का विषय

सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अर्थ- (केवलस्य) केवलज्ञान का (विषय:) विषय सम्बन्ध (सर्वद्रव्यपर्यायेषु) सब द्रव्यों में और उनकी सब पर्यायों में (अस्ति) है।

विशेषार्थ- सब द्रव्यों को और सब द्रव्यों की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को केवलज्ञान एक साथ एक समय में प्रत्यक्ष जानता है।

एक साथ एक आत्मा में रहने वाले ज्ञानों की संख्या

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्य: ॥३०॥

अर्थ- (एकस्मिन्) एक जीव में (युगपत्) एक साथ (एकादीनि) एक को आदि लेकर (आचतुर्भ्य:) चार ज्ञान तक (भाज्यानि) विभाजित करना चाहिये।

विशेषार्थ- यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान, दो ज्ञान हों तो मति और श्रुत, तीन ज्ञान हों तो मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत, मन:पर्यय तथा चार ज्ञान हों तो

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय होते हैं। एक साथ पांचों ज्ञान किसी भी जीव के नहीं होते।

प्रारम्भ के चार ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं और अन्त का केवलज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है।

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

अर्थ- (मतिश्रुतावधय:) मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान (विपर्यय: च) मिथ्या भी (भवन्ति) होते हैं।

विशेषार्थ- मति, श्रुत और अवधि ज्ञान मिथ्या भी होते हैं। इन्हें क्रम से कुमति, कुश्रुत और कुअवधि (विभङ्गावधि) भी कहते हैं ।

इन तीनों ज्ञानों में मिथ्यापन मिथ्यादर्शन के संसर्ग से होता है। जैसे कड़वी तुम्बी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, वैसे ही जिस आत्मा के मिथ्यादर्शन का उदय है उस आत्मा के ज्ञान मिथ्या होते हैं।

ज्ञानों के मिथ्या होने का हेतु

सदसतोरवि-शेषाद्-यद्दच्छोप-लब्धे रुन्मत्तवत् ॥३२॥

अर्थ- (यद्दच्छोपलब्धे:) अपनी इच्छानुसार जैसा का तैसा जानने के कारण (सदसतो:) सत्य और असत्य पदार्थों में (अविशेषात्) अन्तर या भेद न होने से (उन्मत्तवत्) पागल मनुष्य के ज्ञान की तरह (विपर्यय:) मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्या (जायते) होता है।

शङ्का- सम्यग्दृष्टि अपने यथार्थ मति, श्रुत और अवधि द्वारा पदार्थों को जैसा जानता है, मिथ्यादृष्टि मिथ्यामति, श्रुत और अवधि द्वारा भी पदार्थों को वैसा ही जानता है। फिर मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्या क्यों कहा ?

उत्तर- मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ मनुष्य कभी माता को पत्नी कहता है, कभी पत्नी को माता कहता है। तथा कभी पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कह बैठता है। फिर भी वह ठीक समझकर ऐसा नहीं कहता। इसी तरह मिथ्या दृष्टि भी घट पट आदि पदार्थों को घट पट आदि को जानता है किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञान उसे नहीं होता।

अर्थात् उसे वस्तु की वास्तविकता (सत्यता) और अवास्तविकता (असत्यता) का भेद (अन्तर) या बोध नहीं होता। इसी से उसका ज्ञान मिथ्या माना जाता है।

नयों के भेद

नैगम-संग्रह-व्यवहा-रर्जु-सूत्र-शब्द-समभिरुढै-वं-भूतानया: ॥३३॥

अर्थ-(नैगमसंग्रहव्यवहार्जुसूत्रशब्दसमभिरुढैवम्भूता:) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़ और एवम्भूत (नया:) ये सात नय हैं।

नय - वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता कर अन्य धर्मों का विरोध नहीं करते हुये पदार्थ का जानना नय कहलाता है।

नैगमनय-जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते हैं। जैसे लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी करने वाले मनुष्य से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हो ? तो वह उत्तर देता है कि भात पका रहा हूँ। किन्तु उस समय वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है पर उसका संकल्प भात बनाने का है। अत: जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई उसे वह निष्पन्न मानकर व्यवहार मानकर व्यवहार करता है वह नैगमनय है।

संग्रहनय- जो नय अपनी जाति का विरोध नहीं कर एकपने से अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है उसे संग्रहनय कहते हैं। जैसे- द्रव्य कहने से समस्त द्रव्यों का, जीव कहने से समस्त जीवों का और पुद्गल कहने से समस्त पुद्गलों का ग्रहण होता है।

व्यवहारनय- जो नय संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुये (ज्ञात) पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करता है उसे व्यवहारनय कहते हैं। जैसे द्रव्य के छह भेद करना। जीव के संसारी और मुक्त आदि भेद करना। तथा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध आदि भेद करना। यह नय वहाँ तक भेद करता है, जहाँ तक भेद हो सकते हैं।

ऋजुसूत्रनय- भूत और भावी पर्याय को छोड़कर जो वर्तमान स्थूल पर्याय का ही ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

शब्दनय - जो नय लिंङ्,संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है उसे शब्दनय कहते हैं। नय लिङ्गादिक के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे दार (पु.) भार्या, (स्त्री), कलत्र (न.), ये तीनों शब्द भिन्न लिङ्ग वाले होकर भी एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं परन्तु यह शब्द नय स्त्री पदार्थ को लिङ्ग के भेद से तीन भेदरूप मानता है।

समभिरूढनय- जो नय नाना अर्थों का उल्लंघन कर रूढ़ि से एक अर्थ को ग्रहण करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भी भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे-इन्द्र, शुक्र, पुरन्दर, ये तीनों शब्द इन्द्र के नाम हैं, परन्तु यह नय तीनों के भिन्न-भिन्न धर्मों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

एवम्भूतनय- जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है उसी क्रियारूप परिणमें पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे एवम्भूत नय कहते हैं। जैसे पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना इस नय का काम है।

विशेष- इन नयों का विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिकनय हैं। और शेष चार पर्यायार्थिकनय हैं। ये नय परस्पर सापेक्ष होते हैं। निरपेक्ष नय मिथ्या माने जाते हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) प्रथमोऽध्याय: ॥१॥

❁❁❁

- पानी शरीर को और सच्चाई मन को साफ करती है।
- बर्ताव में बालक, सत्य में युवा और ज्ञान में वृद्ध बनो।
- वचन की अपेक्षा जीवन में आचरण से उपदेश देना अत्यधिक प्रभावकारी है।
- घर हो या वन, परिणाम हर जगह निर्मल रखे जा सकते हैं।
- पहाड़ से गिरा मनुष्य उठ सकता है, लेकिन नजरों से गिरा नहीं।
- काँटों के बीच रहने वाला फूल सुगन्धी को प्राप्त होता है।
- निकम्मे आदमी को ही सब प्रकार के बुरे भाव सताते हैं।
- प्रत्येक अच्छा कार्य पहले असम्भव-सा लगता है।
- सोने का प्रत्येक धागा मूल्यवान होता है, वैसे ही समय का प्रत्येक क्षण मूल्यवान होता है।
- काँच का टुकड़ा सोने की संगति से हीरा नहीं बन सकता है।
- अज्ञानी अधिक में कम बोलता है और ज्ञानी कम में ज्यादा बोलता है, ध्यानि मौन रहता है।
- बड़प्पन छोटे लोगों की सेवा द्वारा मिलता है।
- रोने की इच्छा हो तो अपने कुकृत्यों के लिए रोना।

द्वितीय अध्याय

जीव के असाधारण भाव

औप-शमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिक पारिणामिकौ च ॥१॥

अर्थ- (जीवस्य) जीव के (औपशमिकक्षायिकौ) औपशमिक, क्षायिक (भावौ) भाव (मिश्रः) मिश्र (च) और (औदयिक-पारिणामिकौ) औदयिक और पारिणामिक ये पांच (स्वतत्त्वम्) स्वतत्त्व या निजी भाव (सन्ति) हैं।

ये भाव जीव को छोड़कर किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते इसलिये इन्हें स्वतत्त्व कहा है। मिश्र का दूसरा नाम क्षायोपशमिक भी है।

औपशमिकभाव-- कर्म के उपशम से आत्मा में जो भाव होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं।

क्षायिक भाव- कर्म के क्षय से आत्मा में जो भाव होता है उसे क्षायिकभाव कहते हैं।

क्षायोपशमिक भाव- कर्म के क्षयोपशम से जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

औदयिक भाव- कर्मों के उदय से आत्मा में जो भाव होते हैं उसे औदयिक भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव- कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय बिना आत्मा में जो भाव होते हैं उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

उपशम- द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रगट न होने को उपशम कहते हैं। जैसे-जल के मैल का निर्मली के संयोग से एक ओर बैठ जाना।

क्षय- कर्म के समूल विनाश को क्षय कहते हैं। जैसे - जल से मल के निकाल देने पर जल का सर्वथा स्वच्छ हो जाना।

क्षयोपशम- सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय तथा आगे उदय में आने वाले निषेकों का सत्ता में उपशम और देशघाती स्पर्धकों का उदय होने को क्षयोपशम कहते हैं। जैसे जल में से कुछ मैल निकल जाने पर और कुछ बने रहने पर मल की क्षीणाक्षीणवृत्ति।

उदय- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म का फलदान के सम्मुख होना।

शंका - किस कर्म की अपेक्षा कौन सा भाव होता है।

समाधान - मोहनीय कर्म की चार अवस्था होती हैं। यथा - उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म में तीन अवस्था होती हैं। यथा - क्षय, क्षयोपशम और उदय। शेष चार कर्मों की दो अवस्था होती हैं। क्षय और उदय।

भावों के भेद

द्वि-नवाष्टा-दशैक-विंशति-त्रि-भेदा यथाक्रमम्॥२॥

अर्थ- ऊपर कहे पांचों भाव (यथाक्रमम) क्रम से (द्वि-नव-अष्टादश-एक-विंशति-त्रिभेदा:) दो, नव, अठारह, इक्कीस, और तीन भेद वाले (सन्ति) हैं।

विशेषार्थ- औपशमिक भाव के दो, क्षायिकभाव के नौ, मिश्रभाव के अठारह, औदयिकभाव के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद होते हैं। इस प्रकार जीव के सम्पूर्ण भाव ५३ होते हैं।

औपशमिक भाव के दो भेद

सम्यक्त्व-चारित्रे॥३॥

अर्थ- औपशमिक भाव के (सम्यक्त्वचारित्रे) सम्यक्त्व और चारित्र ये दो भेद हैं।

औपशमिकसम्यक्त्व- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात कर्मप्रकृतियों के उपशम से जो आत्मा में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं।

औपशमिकचारित्र- मोहनीय कर्म की शेष २१ प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है उसे औपशमिकचारित्र कहते हैं।

क्षायिकभाव के नौ भेद

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च॥४॥

अर्थ- क्षायिक भाव के (ज्ञान) केवलज्ञान, (दर्शन) केवलदर्शन, (दान) क्षायिकदान, (लाभ) क्षायिकलाभ, (भोग) क्षायिकभोग, (उपभोग) क्षायिकउपभोग, (वीर्याणि) क्षायिकवीर्य, (च) तथा क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र ये नौ भेद हैं। इन नौ भावों को लब्धियाँ भी कहते हैं।

केवलज्ञान- जो ज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है।

केवलदर्शन- जो दर्शनावरण कर्म के क्षय से होता है।

स्थावर जीवों के भेद

पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अर्थ- (पृथिवी- अप्- तेज: - वायु- वनस्पतय:) पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच (स्थावरा:) स्थावर हैं। इनके केवल एक ही स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

स्थावर- स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था-विशेष (पर्याय) को स्थावर कहते हैं।

प्रश्न - पंच स्थावर जीवों की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है ?

उत्तर - मृदु पृथ्वीकायिक की आयु बारह हजार वर्ष, खर पृथ्वीकायिक की आयु बाईस हजार वर्ष, जलकायिक की आयु सत्रह हजार वर्ष, अग्निकायिक की आयु तीन दिन, वायुकायिक की आयु तीन हजार वर्ष तथा वनस्पतिकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की होती है।

त्रसजीव के भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

अर्थ- (द्वीन्द्रियादय:) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव (त्रसा:) त्रस कहलाते हैं।

त्रस- त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्थाविशेष (पर्याय) को त्रस कहते हैं।

प्रश्न - विकलत्रय जीवों की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है।

उत्तर - दो इन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष, तीन इन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट आयु उनञ्चास दिन, चार इन्द्रिय जीव की छ: मास की उत्कृष्ट आयु होती है।

नोटः- पंचेन्द्रिय जीव की आयु अधिकतम तैंतीस सागर की है।

इन्द्रियों की संख्या वा भेद

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अर्थ- (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (पञ्च) पाँच होती हैं।

इन्द्रिय- जिससे संसारी जीव की पहिचान होती है उसे इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियों के मूल भेद

द्विविधानि ॥१६॥

अर्थ- इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं। द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ- निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृत्ति- नामकर्म के उदय से होने वाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति के दो भेद हैं - आभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति।

आभ्यन्तर निवृत्ति- आत्मा के प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है।

बाह्य निवृत्ति - पुद्गल के परमाणुओं का इन्द्रियाकार होना बाह्य-निर्वृत्ति कहलाती है।

उपकरण - निर्वृत्ति के सहायक (उपकारक) को उपकरण कहते हैं। उपकरण के दो भेद हैं - आभ्यन्तर उपकरण और बाह्य उपकरण। जैसे-नेत्र में जो काला और सफेद मण्डल है वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलकें तथा रोम वगैरह बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों में भी जानना चाहिये।

भावेन्द्रिय का स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अर्थ- (लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग को (भावेन्द्रियम्) भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धि- ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम-विशेष को लब्धि कहते हैं।

उपयोग- लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

विशेषार्थ- जीव में देखने की शक्ति तो है किन्तु उसका उपयोग दूसरी और होने से वह सामने स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को जानने की इच्छा होते हुये भी यदि क्षयोपशम नहीं हो तो वह जान नहीं सकता। अतः ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रगट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का पदार्थों की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है। लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

इन्द्रियों के नाम

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

अर्थ- (स्पर्शन) त्वचा (रसना) जीभ (घ्राण) नाक (चक्षु) आँख और (श्रोत्राणि) (कान) ये पांच इन्द्रियाँ (सन्ति) हैं।

इन्द्रियों के विषय

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास् तदर्थाः ॥२०॥

अर्थ- (तदर्थाः) उन इन्द्रियों के विषय क्रमशः (स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः) स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पांच (सन्ति) हैं।

स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श को, रसना इन्द्रिय रस को, घ्राण इन्द्रिय गन्ध को, चक्षुरिन्द्रिय रूप को तथा श्रोत्र इन्द्रिय शब्द को विषय करती हैं।

मन का विषय

श्रुत-मनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अर्थ - (अनिन्द्रियस्य) मन का विषय (श्रुतम) श्रुत- ज्ञानागोचर पदार्थ (अस्ति) है। अथवा श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ मन का विषय है।

स्पर्शन इन्द्रिय का स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अर्थ - (वनस्पति-अन्तानाम्) वनस्पतिकाय है अन्त में जिनके ऐसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के (एकम्) एक स्पर्शन इन्द्रिय (जायते) होती है।

शेष इन्द्रियों के स्वामी

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीना-मेकैक-वृद्धानि ॥२३॥

अर्थ - (कृमिपिपीलिका भ्रमरमनुष्यादीनाम्) लट आदि, चिवटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के क्रम से (एकैकवृद्धानि) एक-एक बढ़ती हुई इन्द्रियाँ होती हैं।

अर्थात् लट आदि के प्रारम्भ की दो, चिवटी आदि के तीन, भौंरा आदि के चार और मनुष्य आदि के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

समनस्क का लक्षण

सञ्ज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

अर्थ - (समनस्काः) मनसहित जीव (संज्ञिनः) संज्ञी, सैनी या समनस्क

(कथ्यन्ते) कहलाते हैं।

संज्ञी - हित और अहित की परीक्षा तथा गुणदोष का विचार वा स्मरणादि करने को संज्ञी कहते हैं।

शंका - हिताहित में प्रवृति मन की सहायता से ही होती है, विग्रहगति में मन रहता नहीं, फिर जीव मन के बिना विग्रहगति में नया शरीर धारण करने के लिए गमन कैसे करता है ?

समाधान

विग्रह-गतौ कर्म-योग ।।२५।।

अर्थ - (विग्रहगतौ) विग्रहगति में (कर्मयोग:) कार्मण काययोग (जायते) होता है। उसी की सहायता से जीव एक गति से दूसरी गति में गमन करता है।

विग्रहगति - नया शरीर धारण करने के लिये गमन करने को विग्रहगति कहते हैं।

कर्मयोग - ज्ञानावरणादि कर्मों के समूह को कार्मण कहते हैं। कार्मण काययोग के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो कम्पन होता है उसे कर्मयोग अथवा कार्मणयोग कहते हैं। इसके द्वारा ही जीव मृत्युस्थान से नवीन जन्म लेने के लिए नये स्थान तक जाता है।

जीव या पुद्गल के गमन का क्रम

अनुश्रेणि गति: ।।२६।।

अर्थ - जीव और पुद्गलों का (गति:) गमन (अनुश्रेणि) आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार ही (जायते) होता है।

श्रेणि - लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में आकाश के प्रदेशों की सीधी पंक्ति (कतार) को श्रेणि कहते हैं।

नोट - जिस समय जीव मरण कर नया शरीर धारण करने के लिए विग्रहगति में गमन करता है उसी का गमन विग्रहगति में श्रेणि के अनुसार होता है अन्य का नहीं। इसी तरह जो पुद्गल का शुद्ध परमाणु एक समय में चौदह राजु गमन करता है उसी का श्रेणि के अनुसार गमन होता है सब पुद्गलों का नहीं।

मुक्तजीव की गति

अविग्रहा जीवस्य ।।२७।।

अर्थ - (जीवस्य) मुक्त जीव की गति (अविग्रहा) मोड़ रहित सीधी (जायते) होती है।

भावार्थ - श्रेणि के अनुसार होने वाली गति के दो भेद हैं। (१) विग्रहवती - जिसमें मुड़ना पड़ता है। (२) अविग्रहा - जिसमें मुड़ना नहीं पड़ता। इनमें से कर्मों का क्षयकर सिद्धशिला के प्रति गमन करने वाले जीवों के अविग्रहा ही गति होती है।

नोटः- अगले सूत्र में संसारी जीव का कथन होने से यहाँ मुक्त जीव का कथन स्वतः होता है।

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

अर्थ - (संसारिण:) संसारी जीव की गति (चतुर्भ्य: प्राक्) चार समय से पहले-पहले (विग्रहवती) विग्रहवती अर्थात् मोड़ सहित (च) अविग्रहा अर्थात् मोड़ रहित दोनों प्रकार की (जायते) होती है।

विशेषार्थ - संसारी जीव की गति मोड़ रहित भी होती है और मोड़ सहित भी। जो मोड़ रहित होती है उसमें केवल एक समय लगता है। जिसमें एक मोड़ लेना पड़ता है उसमें दो समय, जिसमें दो मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें तीन समय और जिसमें तीन मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं। यह जीव चौथे समय में कही न कहीं नवीन शरीर नियम से धारण कर लेता है। इसलिये विग्रहगति का समय चार समय के पहले-पहले तक कहा गया है। उक्त गतियाँ के ४ भेद हैं। ऋजुगति (इषुगति), पाणिमुक्तागति लाङ्गलिकागति और गोमूत्रिकागति।

संसारी जीवों की गति : संसारी जीवों का मरण के बाद उत्पत्ति स्थान सरल रेखा में भी होता है और वक्ररेखा में भी। जैसे आनुपूर्वी कर्म का उदय होता है उसके अनुसार उन्हें उत्पत्ति स्थान प्राप्त होता है। इसलिये संसारी जीवों की ऋजुगति भी होती है और विग्रहगति भी। यदि उनका उत्पत्ति स्थान सरल रेखा में होता है तो ऋजुगति होती है और यदि उत्पत्ति स्थान वक्र रेखा में होता है तो विग्रहगति होती है। ऋजुगति का दूसरा नाम इषुगति भी है। इषु वाण का नाम है। धनुष से वाण के छोड़ने पर वह सरल (सीधा) जाता है। इस प्रकार जो गति सरल होती है उसे इषुगति कहते हैं। तथा विग्रहगति के पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका-ये तीन भेद हैं। पाणि पर रखा हुआ मुक्ता एक मोड़ा लेकर जमीन पर गिरता है। इसी प्रकार जिसमें एक मोड़ा लेना पड़े वह पाणिमुक्ता गति है। लाङ्गल हल का नाम है। इसमें दो मोड़ा होते हैं। इसी प्रकार जिसमें दो मोड़ा लेना पड़े वह लाङ्गलिका गति है तथा जिसमें गोमूत्र के समान अनेक अर्थात् तीन मोड़ा लेना पड़े वह गोमूत्रिका गति है। यहाँ अनेक का अर्थ तीन लिया है, क्योंकि जीव क पूर्व शरीर का त्याग करके नवीन शरीर को प्राप्त होने में तीन से अधिक मोड़े नहीं लेने पड़ते हैं। सबसे वक्ररेखा में स्थित निष्कुट क्षेत्र बतलाया है,

किन्तु वहाँ उत्पन्न होने के लिये भी अधिक से अधिक तीन मोड़े ही लेने पड़ते हैं।

ऋजुगति में एक समय, पाणिमुक्ता गति में दो समय, लाङ्गलिका गति में तीन समय और गोमूत्रिका गति में चार समय लगते हैं। आशय यह है कि मोड़ा के अनुसार समय बढ़ते जाते हैं। ऋजुगति में उत्पत्ति स्थान तक पहुँचने में एक समय लगता है और विग्रहगति में प्रत्येक मोड़ा तक पहुँचने में एक समय अधिक लगता है, इसलिये यदि एक मोड़ा है तो दो समय लगते हैं। दो मोड़ा है तो तीन समय लगते हैं और तीन मोड़ा है तो चार समय लगते हैं। इससे यह फलित हुआ कि मोड़ाओं में अधिक से अधिक तीन समय लगते है। और गति मोड़ा रहित होती हैं उसमें एक समय लगता है।

नोट- अगले दोनों सूत्रों में समय की ही चर्चा है सुगमता के लिये यहाँ उल्लेख कर दिया है।

अविग्रहा गति का समय

एक-समयाविग्रहा ॥२९॥

अर्थ - (अविग्रहा) मोड़ रहित गति (एकसमया) एक समय मात्र ही (जायते) होती है। इसमें एक ही समय लगता है। यह गति ही ऋजुगति कहलाती है।

विग्रहगति में आहारक अनाहारक की व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः ॥३०॥

अर्थ - विग्रहगति में जीव (एकं द्वौ त्रीन् वा) एक ,दो अथवा तीन समय तक (अनाहारकः) अनाहारक रहता है।

आहारक - औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलवर्गणाओं के ग्रहण करने को आहारक कहते हैं।

अनाहारक - जब तक जीव आहार को ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है।

संसारी जीव मोड़ रहित गति में आहारक ही होता है। किन्तु एक, दो, तीन मोड़ वाली गतियों में क्रम से एक, दो, तीन समय तक अनाहारक रहता है। मोड़ समाप्त होने पर चौथे समय में नियम से वह आहारक हो जाता है। यहाँ आहार से मतलब औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण करना है।

जो जीव ऋजुगति से जन्म लेते हैं वे अनाहारक नहीं होते, क्योंकि ऋजुगति वाले

जीव जिस समय में पूर्व शरीर छोडते हैं उस समय उस छोडे हुए शरीर का आहार लेते हैं और उससे अनन्तर समय में नवीन शरीर का आहार लेते हैं। परन्तु दो समय की एकविग्रह वाली, तीन समय की दो विग्रह वाली और चार समय की तीन विग्रह वाली गति में अनाहारक अवस्था पाई जाती है।

जन्म के भेद

सम्मूर्च्छन-गर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

अर्थ - (जन्म) जन्म (सम्मूर्च्छनगर्भोपपादाः) सम्मूर्च्छन, गर्भ और उत्पाद के भेद से तीन प्रकार का (जायते) होता है।

सम्मूर्च्छनजन्म - अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं के द्वारा माता-पिता के रज और वीर्य के बिना ही शरीर की रचना होने को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

गर्भजन्म - स्त्री के उदर में रज और वीर्य के मिलने से जो शरीर की रचना होती है उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपपादजन्म - माता-पिता के रज और वीर्य के बिना देव और नारकियों के निश्चित स्थान विशेष पर उत्पन्न होने को उपपादजन्म कहते हैं।

योनियों के भेद

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश् चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ - (सचित्तशीतसंवृताः) सचित्त, शीत, संवृत (सेतराः) इनसे उल्टी अचित्त, उष्ण, विवृत (च) और (एकशः) एक-एक कर (मिश्राः) क्रम से मिली हुई तीन सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत ये नौ (तद्योनयः) उन सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की योनियाँ (सन्ति) हैं।

सचित्तयोनि - चेतना सहित योनि को सचित्त योनि कहते हैं।

संवृत योनि - जो किसी के देखने में नहीं आता ऐसे जीव के उत्पत्ति-स्थान को संवृतयोनि कहते हैं।

शीत योनि - शीत स्पर्श युक्त योनि को शीत योनि कहते हैं।

देव और नारकियों की अचित्त योनि होती है। गर्भजों की मिश्र योनि होती है। सम्मूर्च्छनों की तीनों प्रकार की योनि होती है।

साधारण शरीर वाले जीवों की सचित्त योनि होती है, क्योंकि ये एक-दूसरे के आश्रय से रहते हैं। इनसे अतिरिक्त शेष सम्मूर्च्छन जीवों के अचित्त और मिश्र दोनों प्रकार की योनियाँ होती हैं।

देव और नारकियों की शीत और उष्ण दोनों प्रकार की योनियाँ होती हैं। तेजस्कायिक जीवों की उष्ण योनि होती है। इनसे अतिरिक्त जीवों की योनियाँ तीन प्रकार की होती हैं।

देव, नारकी और एकेन्द्रियों की संवृत योनि होती है। विकलेन्द्रियों की विवृत योनि होती है। तथा गर्भजों की मिश्र योनि होती है।

किस योनि में किस जीव जन्म लेते हैं इसका खुलासा

जीव	योनि
देव और नारकी	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च	मिश्र-सचित्ताचित्त
शेष सम्मूर्च्छन जन्म वाले (अर्थात् पाँचों स्थावर, तीनों विकलत्रय, सम्मूर्च्छन पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य)	त्रिविध योनि-सचित, अचित्त और मिश्र
देव और नारकी	शीत और उष्ण योनि
अग्निकाय	उष्ण योनि
शेष सब अर्थात् सब मनुष्य, अग्निकाय के सिवा चारों स्थावरकाय, विकलत्रय, सब पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च	त्रिविध योनि-शीत, उष्ण और शीतोष्ण
देव, नारकी और एकेन्द्रिय	संवृत
विकलेन्द्रिय व सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय	विवृत
गर्भज	मिश्र

गर्भजन्म के स्वामी

जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थ - (जरायुजाण्डज पोतानां) जरायुज, अण्डज और पोत इन तीनों प्रकार के प्राणियों के (गर्भः) गर्भजन्म ही (भवति) होता है। अथवा गर्भजन्म उक्त प्राणियों के ही होता है।

जरायुज - जन्म के समय प्राणी के शरीर से जाल, रुधिर और मांस की जो खोल सी लिपटी रहती है उसे जरायु या जेर कहते हैं। उससे जो उत्पन्न होता है उसे जरायुज कहते हैं। जैसे - गाय, भैंस, मनुष्य वगैरह।

अण्डज - जो जीव अण्डे से उत्पन्न होता है उसे अण्डज कहते हैं। जैसे - चील, कबूतर आदि पक्षी।

पोत - पैदा होते समय जिस जीव पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता और जो योनि से निकलते ही चलने फिरने लगता है, उसे पोत कहते हैं। जैसे - हरिण और सिंह वगैरह।

उपपाद जन्म के स्वामी

देव-नारकाणामुपपादः ॥३४॥

अर्थ - (देवनारकाणाम्) देवों और नारकियों के (उपपादः) उपपाद जन्म (एव) ही (जायते) होता है। अथवा उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म के स्वामी

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

अर्थ - (शेषाणाम्) गर्भ और उपपाद जन्म वालों से भिन्न जीवों के (सम्मूर्च्छनम् एव जायते) सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। अथवा सम्मूर्च्छन जन्म शेष जीवों के ही होता है।

शरीरों के नाम व भेद

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

अर्थ - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर हैं।

औदारिक शरीर- स्थूल शरीर (जो दूसरे को रोके और दूसरे से रुक सके) को औदारिक शरीर कहते हैं। यह मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है।

वैक्रियिक शरीर- जो एक, अनेक, स्थूल, सूक्ष्म, हल्का, भारी आदि अनेक प्रकार किया जा सकता है उस शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह देव और नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है। वह औदारिक शरीर में होती है।

आहारक शरीर- सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय या वन्दना आदि के लिये छठें गुणस्थानवर्ती मुनि के मस्तक से एक हाथ का जो पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर- औदारिक आदि शरीरों में तेज (कान्ति) देने वाले शरीर को तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मणशरीर- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मणशरीर कहते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अर्थ- औदारिक से (परं परम्) आगे आगे के शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म हैं। अर्थात् औदारिक से वैक्रियिक, वैक्रियिक से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

औदारिकादि तीन शरीरों के प्रदेश

प्रदेशतोऽसंख्येय- गुणं प्राक् तैजसात् ।।३८।।

अर्थ- (प्रदेशत:) प्रदेशों या अंशों की अपेक्षा (तैजसात् प्राक्) तैजस शरीर से पहले-पहले के शरीर (असंख्येयगुणम्) असंख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ- औदारिक शरीर की अपेक्षा असंख्यातगुणें प्रदेश (परमाणु) वैक्रियिक शरीर में और वैक्रियिक की अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश (अंश) आहारक शरीर में होते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश

अनन्त-गुणे परे ।।३९।।

अर्थ - (परे) शेष दो शरीर (अनन्तगुणे) अनन्तगुणें परमाणु वाले (स्त:) हैं। अर्थात् आहारक शरीर से अनन्तगुणे परमाणु तैजस शरीर में और तैजस शरीर की अपेक्षा अनन्तगुणे परमाणु कार्मण शरीर में होते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

अप्रतिघाते ।।४०।।

अर्थ- तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर अप्रतिघाती (बाधारहित) हैं। अर्थात् ये दोनों समस्त लोक में किसी भी मूर्तिक पदार्थ से न स्वयं रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं।

तैजस और कार्मण की विशेषता

अनादि-सम्बन्धे च ।।४१।।

अर्थ- तैजस और कार्मण शरीर आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

सर्वस्य ।।४२।।

अर्थ- ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

एकजीव के एक साथ हो सकने वाले शरीर

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्य: ।।४३।।

अर्थ- (तदादीनि) उन तैजस और कार्मण शरीर को आदि लेकर (युगपद्) एक साथ (एकस्य) एक जीव के (आचतुर्भ्य:) चार शरीर तक (भाज्यानि) विभक्त करना चाहिये। अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण, तीन हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस कार्मण और वैक्रियिक तथा चार शरीर हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक शरीर होते हैं।

कार्मण शरीर की विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ।।४४।।

अर्थ- (अन्त्यम्) अन्त का कार्मण शरीर (निरुपभोगम्) उपभोगरहित (जायते) होता है।

उपभोग- इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं। वह उपभोग विग्रहगति में नहीं होता है।

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भ-सम्मूर्च्छनज-माद्यम् ।।४५।।

अर्थ- (गर्भसम्मूर्च्छनजम्) गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न हुआ शरीर (आद्यम्) पहला औदारिक शरीर (कथ्यते) कहलाता है।

वैक्रियिक शरीर का लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम् ।।४६।।

अर्थ- (औपपादिकम्) उपपाद जन्म से होने वाला देव नारकियों का शरीर (वैक्रियिकम्) वैक्रियिक कहलाता है।

विशेष वैक्रियिक का लक्षण

लब्धि-प्रत्ययं च ।।४७।।

अर्थ- वैक्रियिक शरीर (लब्धिप्रत्ययं च) लब्धिनिमित्तक भी होता है।

लब्धि- विशेष तपस्या करने से जो ऋद्धि प्राप्त होती है, उसे लब्धि कहते हैं।

तैजसमपि ।।४८।।

अर्थ- तैजसशरीर भी लब्धिप्रत्यय (ऋद्धिनिमित्तक) होता है।

विशेषार्थ- तैजस शरीर दो प्रकार का होता है एक शरीर में ही रहकर उसको कान्ति देने वाला। जो सब संसारी जीवों के होता है। दूसरा शरीर से निकलकर बाहर जाने वाला। यह भी शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है।

आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्त-संयतस्यैव ॥४९॥

अर्थ- (आहारकम्) आहारक शरीर (शुभम्) शुभ अर्थात् शुभकार्य करने वाला (विशुद्धम्) विशुद्ध अर्थात् विशुद्ध कर्म का कार्य (अव्याघाति) व्याघात वा बाधारहित तथा (प्रमत्तसंयतस्य एव) प्रमत्तसंयत नामक छठें गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज के ही (जायते) होता है।

नारकियों और सम्मूर्च्छनों के भेद

नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

अर्थ- (नारक सम्मूर्च्छिनः) नारकी और सम्मूर्च्छन जन्म वाले (नपुंसकानि) नपुँसक (भवति) होते हैं।

देवों के वेद

न देवाः ॥५१॥

अर्थ- (देवाः न) देव नपुँसकवेदी नहीं होते। अर्थात् देवों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ये दो ही वेद होते हैं।

मनुष्यों और तिर्यञ्चों के वेद

शेषास् त्रिवेदाः ॥५२॥

अर्थ- शेष बचे हुये मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च तीनों वेद वाले होते हैं।

कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्चों के तीनों में से कोई एक वेद होता है परन्तु भोगभूमि तथा म्लेच्छखण्ड के मनुष्यों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ही होते हैं।

औपपादिक-चरमोत्तम-देहासंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

अर्थ- उपपादजन्म वाले देव नारकी, तद्भवमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थङ्कर आदि तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमि के जीव परिपूर्ण आयु वाले होते हैं। अर्थात् इन जीवों के असमय में मृत्यु नहीं होती।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

❁❁❁

कुबेर की सम्पत्ति भीतर छिपी है- सावधानी से समय का सदुपयोग करो।

पत्थर के खम्भे के समान जीवन में कभी नहीं झुकने वाला अहंकार आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

अधोलोक चित्रण

क्र.	पृथिवी	नरकनाम	बिल	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	शरीर की ऊँचाई
१.	रत्नप्रभा	धम्मा	३० लाख	१०,००० वर्ष	१ सागर	७ध. ३ हा. ६ अंगुल
२.	शर्करा प्रभा	वंशा	२५ लाख	१ सागर	३ सागर	१५ध. २हा. १२अंगुल
३.	बालुका प्रभा	मेघा	१५ लाख	३ सागर	७ सागर	३१ ध. १ हाथ
४.	पंक प्रभा	अंजना	१० लाख	७ सागर	१० सागर	६२ ध. २ हाथ
५.	धूम प्रभा	अरिष्टा	३ लाख	१० सागर	१७ सागर	१२५ धनुष
६.	तम: प्रभा	मधवा	५ कम १लाख	१७ सागर	२२ सागर	२५० धनुष
७.	महातम: प्रभा	माधवी	मात्र ५	२२ सागर	३३ सागर	५०० धनुष

क्र.	अ.ज्ञान का क्षेत्र	लेश्या	जन्म अन्तर	पटल	मोटाई	म.लो से दूरी
१.	चार कोस	जघन्य कापोत	चौबीस मुहूर्त	१३	१,८०,००० यो	-
२.	३.१/२ "	मध्यम कापोत	सात दिन	११	३२,००० यो	१ राजू
३.	३ कोस	उ.का.ज.नी.	१५ दिन	९	२८,००० यो	२ राजू
४.	२.१/२ "	मध्यम नील	१ माह	७	२४,००० यो	३ राजू
५.	२ कोस	उ.नी.ज.कृ.	२ माह	५	२०,००० यो	४ राजू
६.	१.१/२ "	मध्यम कृ.	४ माह	३	१६,००० यो	५ राजू
७.	१ कोस	उत्तम कृष्ण	६ माह	१	८००० यो	६ राजू

क्र.	मिट्टी की दुर्गंध	लगातार उत्पन्न	जीव मरके क्या हो सकते हैं
१.	१ कोस के भीतर के जीव मर जायें	८ बार	तीर्थंकर
२.	१.१/२ " " "	७ बार	"
३.	२ कोस " " "	६ बार	"
४.	२.१/२ " " "	५ बार	मोक्षगामी
५.	३ कोस " " "	४ बार	मुनिव्रत/सकलसंयमी
६.	३.१/२ " " "	३ बार	देशविरति
७.	४ कोस " " "	२ बार	मिथ्यादृष्टि तिर्यंच

क्र.	कौन जीव कहाँ तक उत्पन्न हो सकते हैं	उत्पाद व्यास	बाहुल्य	ऊँचे उछलते हैं
१.	असंज्ञी जीव	१ कोस	अपनी	७ यो ३.१/४ कोस
२.	सरीसृप	२ कोस	अपनी	१५ यो २.१/२ को.
३.	पक्षी	३ कोस	शरीर	३१ यो १ कोस
४.	भुजंगादि	१ योजन	अवगाहना	६२ यो २ को.
५.	सिंह	२ योजन	से पाँच	१२५ योजन
६.	स्त्री	३ योजन	गुना है।	२५० योजन
७.	मत्स्य एवं मनुष्य	१०० योजन		५०० योजन

तृतीय अध्याय

अधोलोक का वर्णन

सात पृथिवियाँ (सात नरक)

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्कधूम-तमो-महातम:प्रभाभूमयो घनाम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठा: सप्ताऽधोऽध: ॥१॥

अर्थ- (रत्नप्रभा) रत्नप्रभा, (शर्कराप्रभा) शर्कराप्रभा, (बालुकाप्रभा) बालुकाप्रभा, (पङ्कप्रभा) पङ्कप्रभा, (धूमप्रभा) धूमप्रभा, (तमोप्रभा) तम:प्रभा और (महातम: प्रभा:) महातम:प्रभा (भूमय:) ये भूमियाँ (सप्त) सात हैं। और वे क्रम से (अधोऽध:) नीचे नीचे (घनाम्बुवाता-काशप्रतिष्ठा:) घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय, और आकाश के आधार (सन्ति) हैं।

विशेषार्थ- अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा, और महातम:प्रभा ये सात प्रथिवियाँ हैं। ये क्रम से एक के नीचे एक हैं। इनमें क्रम से धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा और माघवी ये सात नरक हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसकी मोटाई के तीन भाग हैं। जिन्हें खरभाग, पंकभाग, और अब्बहुलभाग कहते हैं। खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसमें ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़ कर बीच के चौदह हजार योजन में असुरकुमारों और राक्षसों के सिवाय शेष ९ प्रकार के भवनवासी व ७ प्रकार के व्यन्तर देव रहते हैं। पंकभाग में असुरकुमार और राक्षस रहते हैं। और अब्बहुल भाग में प्रथम नरक है।

खरभाग की मोटाई सोलह हजार योजन, पंकभाग की चौरासी हजार योजन और अब्बहुलभाग की मोटाई १-१ योजन छोड़कर अस्सी हजार योजन है। शर्करा प्रभा पृथ्वी की मोटाई बत्तीस हजार योजन, बालुका प्रभा पृथ्वी की मोटाई अट्ठाईस हजार योजन, पंकप्रभा पृथ्वी की मोटाई चौबीस हजार योजन, धूमप्रभा पृथ्वी की मोटाई बीस हजार योजन, तम:प्रभा पृथ्वी की मोटाई सोलह हजार योजना और महातम:प्रभा पृथ्वी की मोटाई आठ हजार योजन है।

ये भूमियाँ घनोदधिवातवलय के आधार हैं, घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आधार है। घनवातवलय तनुवातवलय के आधार है। और तनुवातवलय आकाश के आधार है। तथा आकाश अपने ही आधार है। क्योंकि आकाश सबसे बड़ा और अनन्त है। इसलिये उसका आधार कोई दूसरा नहीं हो सकता।

प्रश्न- अधोलोक किसके समान होता है ?

उत्तर- अधोलोक "वेत्रासन" के समान होता है।

प्रश्न - अधोलोक कहाँ पर स्थित है और कैसा होता है ?

उत्तर - मंदराचल के मूल से नीचे का क्षेत्र अधोलोक कहलाता है। अधोलोक चार राजू मोटा और जगत्प्रतर प्रमाण लंबा चौड़ा होता है।

प्रश्न - इन तीनों वालवलयों की मोटाई कितनी होती है ?

उत्तर - घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। तीनों वातवलयों की मोटाई साठ हजार योजन होती है।

प्रश्न - मध्य लोक से नरकों की पृथ्वी का अंतराल कितना-कितना होता है ?

उत्तर - मध्यलोक से दूसरे नरक तक की पृथ्वी का अंतराल कुछ कम एक राजू प्रमाण होता है। इसी प्रकार दूसरे नरक की पृथ्वी से तीसरे नरक तक की पृथ्वी का अंतराल भी कुछ कम एक राजू प्रमाण होता है। इसी तरह एक एक राजू के अंतराल में क्रम से सातवें नरक की पृथ्वी होती है। सातवे नरक की पृथ्वी कुल छः राजू नीचे अंतराल में है।

प्रश्न - सातवें नरक की पृथ्वी के नीचे का प्रमाण कितना है ?

उत्तर - सातवें नरक की पृथ्वी के नीचे का प्रमाण एक राजू है जिसमें केवल निगोदिया जीव ही रहते हैं।

प्रश्न - नरक किसे कहते हैं ?

उत्तर - नारकियों के रहने के स्थान को नरक कहते हैं।

प्रश्न - नारकी किसे कहते हैं ?

उत्तर - अत्यधिक मात्रा में पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेकों प्रकार के असह्य दुःखों को भोगने वाले जीवों को नारकी कहते हैं। अथवा नरकों में रहने वाले जीवों को नारकी कहते हैं।

प्रश्न - नरकों में कितने पटल होते हैं ?

उत्तर - प्रथम नरक में तेरह पटल, दूसरे नरक में ग्यारह पटल, तीसरे नरक में नौ पटल, चौथे नरक में सात पटल, पाँचवें नरक में पाँच पटल, छठें नरक में तीन पटल और सातवें नरक में एक पटल है। इस प्रकार कुल मिलाकर नरकों में उनञ्चास पटल होते हैं।

सात पृथिवियों में नरकों (बिलों) की संख्या

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैक-नरक-शतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।।२।।

अर्थ- (तासु) उन पृथिवियों में (यथाक्रमम्) क्रम से (त्रिंशत् शतसहस्राणि) तीस लाख, (पञ्चविंशति) पच्चीस लाख, (पञ्चदश) पन्द्रह लाख, (दश) दस लाख, (त्रि) तीन लाख, (पञ्चोनैक) पांच कम एक लाख (च) और (पञ्च एव) पांच ही नरक-बिल हैं। ये बिल जमीन में गड़े हुये ढोल की पोल के समान होते हैं और वे गोल, चौकोण वा त्रिकोण आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

भावार्थ- रत्नप्रभा पृथिवी में ३० लाख, शर्कराप्रभा पृथिवी में २५ लाख, बालुकाप्रभा पृथिवी में १५ लाख, पंकप्रभा पृथिवी में १० लाख, धूमप्रभा पृथिवी में ३ लाख, तम:प्रभा पृथिवी में ५ कम १ लाख, महातम:प्रभा पृथिवी में मात्र ५ बिल हैं।

प्रश्न - बिल कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर - बिल तीन प्रकार के होते हैं - १. इन्द्रक बिल, २. श्रेणीबद्ध बिल, ३. प्रकीर्णक बिल।

प्रश्न - इन्द्रक बिल किसे कहते हैं ?

उत्तर - सभी बिलों के ठीक मध्य के बिलों को इन्द्रक बिल कहते हैं।

प्रश्न - श्रेणीबद्ध बिल किसे कहते हैं ?

उत्तर - आकाश प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार दिशा और विदिशाओं में स्थित बिलों को श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं ?

प्रश्न - प्रकीर्णक बिल किसे कहते हैं ?

उत्तर - फूलों के समान बिखरे हुए बिलों को प्रकीर्णक बिल कहते हैं।

प्रश्न - नरक में नारकी जीवों की विक्रिया किस प्रकार की होती है ?

उत्तर - छठें नरक तक के नारकियों के त्रिशूल, चक्र, तलवार, मुद्गर, परशु, भिण्डीपाल आदि अनेक आयुधरूप एकत्व विक्रिया होती है। सातवें नरक में गाय बराबर कीड़े, लोहू, चींटी आदि रूप से एकत्व विक्रिया होती है।

प्रश्न - नारकियों की जन्मभूमियों का विस्तार कितना होता है ?

उत्तर - नारकियों की जन्मभूमियों का विस्तार जघन्य रूप से पाँच कोस, उत्कृष्ट रूप से चार सौ कोस और मध्यम रूप से दस-पन्द्रह कोस होता है।

नारकियों के लेश्यादि के दुःख

नारका नित्याशुभतरलेश्या परिणामदेह-वेदना-विक्रियाः ।।३।।

अर्थ- नारकी जीव हमेशा ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम, अशुभ शरीर, अशुभ वेदना और अशुभ विक्रिया के धारक होते हैं।

परिणाम से यहाँ पुद्गलों का स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दरूप परिणाम लिया गया है। ये सातों नरकों में उत्तरोत्तर तीव्र दुःख के कारण और अशुभतर हैं।

देह - नरकों में नारकियों के शरीर अशुभ नाम कर्म के उदय से होने के कारण उत्तरोत्तर अशुभ हैं।

वेदना - नारकियों के सदा असाता वेदनीय कर्म का ही उदय रहता है और वहाँ वेदना के बाह्य निमित्त शीत और उष्णता की उत्तरोत्तर अति तीव्रता है, जिससे उन्हें उत्तरोत्तर तीव्र वेदना होती है।

विक्रिया - उनकी विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ होती है। वे अच्छा करने का विचार करते हैं, परन्तु होता है बुरा। यदि विक्रिया से शुभ बनाना चाहते हैं तो बन जाता है अशुभ।

सामान्य नियम यह है कि तिर्यञ्च और मनुष्य ही नरकों में उत्पन्न होते हैं। देव और नारकी नरकों में उत्पन्न नहीं होते।

प्रश्न - बिलों में कितने बिल उष्ण (गरम) और कितने बिल ठण्डे होते हैं ?

उत्तर - रत्नप्रभा पृथ्वी से लेकर पाँचवी पृथ्वी तक व्यासी लाख पच्चीस हजार बिल तो उष्ण (गरम) होते हैं तथा एक लाख पिचत्तर हजार बिल ठण्डे होते हैं।

अर्थात प्रथम पृथिवी से चौथी पृथिवी तक के बिल ऊष्ण हैं। पाँचवीं पृथिवी के 2 लाख पच्चीस हजार बिल उष्ण हैं तथा पिचहत्तर हजार बिल ठण्डे हैं। छठी और सातवीं पृथिवी के बिल ठण्डे ही हैं।

प्रश्न - नरकों में नारकी जीवों की कौन सी लेश्याएँ होती हैं ?

उत्तर - नरकों में नारकी जीवों के कृष्ण, नील और कापोत ये अशुभ लेश्यायें होती हैं। पहले, दूसरे व तीसरे नरक के कुछ हिस्से तक कापोत लेश्या होती है। शेष तीसरे, चौथे, और पाँचवें नरक के कुछ हिस्से तक नील लेश्या होती है और शेष पाँचवें छठें, और सातवें नरक के नारकियों के कृष्ण लेश्या होती है।

प्रश्न - नारकी जीवों का आहार पानी किस प्रकार का होता है ?

उत्तर - रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी जीव कड़वी और तीखी मिट्टी का आहार करते हैं।

उससे नीचे की पृथ्वियों के नारकी जीव सड़ा हुआ अशुभ एवं दुर्गन्ध युक्त आहार करते हैं। अत्यंत तीक्ष्ण खारा व गरम वैतरणी नदी का जल पीते हैं।

प्रश्न - नरकों में कितने प्रकार के दु:ख होते हैं ?

उत्तर - नरकों में चार प्रकार के दु:ख होते हैं - १. क्षेत्र जनित दु:ख, २. शारीरिक दु:ख, ३. मानसिक दु:ख और ४. असुरकृत दु:ख।

प्रश्न - नरकों में नारकी जीवों को कितनी भूख लगती है ?

उत्तर - नरकों में नारकी जीवों को इतनी भूख लगती है कि समस्त पुद्गलों का समूह (तीनों लोकों का अनाज भी) उस भूख को शांत करने में समर्थ नहीं है। परन्तु वहाँ खाने के लिये एक दाना भी नहीं मिलता।

प्रश्न - नरकों में नारकी जीवों को प्यास कितनी लगती है ?

उत्तर - नरकों में नारकी जीवों को इतनी प्यास लगती है कि समस्त समुद्रों का जल भी पीयें तो प्यास नहीं मिटे, परन्तु पीने के लिए एक बूंद पानी भी नहीं मिलती।

प्रश्न - धम्मा आदिक पृथ्वियों में आहार की दुर्गन्ध कैसी है ?

उत्तर - धम्मा आदिक पृथ्वियों में जो आहार (मिट्टी) है उसकी गंध से एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं। इसके आगे शेष द्वितीय आदि पृथ्वियों में इसकी घातक शक्ति आधा-आधा कोस और भी बढ़ती जाती है।

प्रश्न - नरकों में उष्णता कितनी रहती है ?

उत्तर - नरकों में इतनी उष्णता है कि यदि उष्ण बिल में मेरु के बराबर लोहे का शीतल पिण्ड डाल दिया जाये, तो वह तल प्रदेश तक पहुँच कर बीच में ही मोम के टुकड़े के समान पिघलकर नष्ट हो जाये।

प्रश्न - नरकों में शीत (ठण्ड) कितनी होती है ?

उत्तर - नरकों में इतनी शीत (ठण्ड) होती है कि पूर्वोक्त मेरु पर्वत के बराबर लोहे का उष्ण पिण्ड शीत बिल में डाल दिया जाये तो वह भी तल प्रदेश तक न पहुँच कर बीच में ही नमक के टुकड़े के समान विलीन हो जाये (जम जाये)।

प्रश्न - प्रथम नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - प्रथम नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ छ: अंगुल प्रमाण होती है।

प्रश्न - दूसरे आदि नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - दूसरे नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल होती है। तीसरे नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई इकत्तीस धनुष एक हाथ होती है। चौथे नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई बासठ धनुष दो हाथ होती है। पाँचवें नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई एक सौ पच्चीस धनुष होती है। छठें नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई दो सौ पचास धनुष होती है। सातवें नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष होती है।

प्रश्न - एक धनुष कितने प्रमाण का होता है ?

उत्तर - एक धनुष चार हाथ प्रमाण का होता है।

प्रश्न - एक हाथ कितने प्रमाण का होता है ?

उत्तर - एक हाथ चौबीस अंगुल के प्रमाण का होता है।

नारकों में पारस्परिक दुःख

परस्परोदीरित-दुःखाः ॥४॥

अर्थ- नारकी जीव (परस्परोदीरितः दुःखाः) आपस में एक दूसरे को दुःख देते हैं और वे कुत्तों की तरह परस्पर में एक दूसरे कुत्ते के समान लड़ते हैं।

नोट- नरकों में भयानक दुःख और चीर फाड़ होने पर भी असमय में मृत्यु नहीं होती। क्योंकि वहाँ अकाल मरण नहीं होता है।

प्रश्न - अम्बाबरीष नामक देव कौन से नरक तक जीवों को दुःख उत्पन्न कराते हैं ?

उत्तर - अम्बाबरीष देव, पहले, दूसरे तथा तीसरे नरक तक के जीवों को दुःख उत्पन्न कराते हैं।

नरकों में असुरकुमार देवों कृत दुःख

संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ- (च) और (चतुर्थ्याः प्राक्) चौथी पृथिवी से पहले अर्थात् तीसरी पृथिवी पर्यन्त (ते) वे नारकी (संक्लिष्टअसुर) संक्लेश परिणाम वाले अम्बाबरीष जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा (उद्दीरित) उत्पन्न किया गया है (दुःखाः) दुःख जिनको ऐसे (भवन्ति) होते हैं। अर्थात् तीसरे नरक तक जाकर अम्बावरीष जाति के असुरकुमार उन्हें पूर्व भव के बैर का स्मरण दिलाकर आपस में लड़ाते हैं और उन्हें दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं। इनके इसी प्रकार की कषाय का उदय रहता है।

नारकियों की उत्कृष्ट आयु

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अर्थ- (तेषु) नरकों में (सत्त्वानाम्) नारकी जीवों की (परा स्थितिः) उत्कृष्ट आयु क्रम से (एकसागरोपमा) एक सागर, (त्रिसागरोपमा) तीन सागर, (सप्तसागरोपमा) सात सागर, (दशसागरोपमा) दस सागर, (सप्तदशसागरोपमा) सत्रह सागर, (द्वाविंशतिसागरोपमा) बाईस सागर, और (त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा) तेतीस सागर है।

प्रश्न - नरकों में नारकी जीव उपपाद स्थान से कहाँ गिरते हैं ?

उत्तर - नरकों में नारकी जीव उपपाद स्थान से छत्तीस प्रकार के शस्त्रों के ऊपर गिरते हैं और गिरते ही गेंद की तरह उछलते हैं और पुन: उसी स्थान पर गिरते हैं।

प्रश्न - नरकों में नारकी जीव कितने ऊपर उछलते हैं ?

उत्तर - प्रथम नरक के नारकी जीव सात उत्सेध योजन और छ: हजार, पाँच सौ धनुष उछलते हैं। उससे आगे के नरकों के नारकी जीव दूना-दूना उछलते हैं।

प्रश्न - छिन्न भिन्न होने पर भी नारकियों का शरीर पुन: कैसे मिल जाता है ?

उत्तर - जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ नदी का जल फिर से मिल जाता है उसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा हुआ नारकियों का शरीर भी फिर से मिल जाता है। क्योंकि नारकियों की अकाल मृत्यु नहीं होती।

प्रश्न - नारकी जीवों को सुख शांति का अनुभव कब होता है ?

उत्तर - जब मनुष्य लोक में तीर्थंकरों के जन्म होते हैं तब क्षणमात्र के लिए नारकी जीवों को सुख शांति का अनुभव होता है। तथा तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले जीव अगर नरक में जाते हैं तो वहाँ की आयु पूर्ण होने के छ: मास पहले से ही वे लड़ना और लड़ाना बंद कर देते हैं।

प्रश्न - नरकों में कोई भी जीव उत्पन्न न हो तो अधिक से अधिक कितने समय तक उत्पन्न नहीं हो सकते ?

उत्तर - पहले नरक में चौबीस मुहूर्त तक, दूसरे नरक में सात दिन तक, तीसरें नरक में एक पक्ष तक, चौथे नरक में एक मास तक, पाँचवें नरक में दो मास तक, छठें नरक में चार मास तक और सातवें नरक में छ: मास तक अधिक से अधिक कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होते हैं। इसको नरकों का अंतर भी कहते हैं।

प्रश्न - नारकियों के कौन-कौन से ज्ञान होते हैं ?

उत्तर - नारकियों के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान (विभंगावधि ज्ञान) होते हैं।

प्रश्न - नरकों में नारकी जीव अवधिज्ञान के माध्यम से कहाँ तक की बात जान सकते हैं ?

उत्तर - प्रथम नरक के नारकी जीव अवधिज्ञान के माध्यम से चार कोस तक की बात जानते हैं। दूसरे नरक के नारकी जीव साढ़े तीन कोस तक की बात जानते हैं। तीसरे नरक के नारकी जीव तीन कोस तक की बात जानते हैं। चौथे नरक के नारकी जीव ढाई कोस तक की बात जानते हैं। पाँचवें नरक के नारकी जीव दो कोस तक की बात जानते हैं। छठें नरक के नारकी जीव डेढ़ कोस तक की बात जानते हैं और सातवें नरके के नारकी जीव एक कोस तक की बात जानते हैं। अर्थात् जान सकते हैं।

प्रश्न - नरकों में नारकियों की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है ?

उत्तर - पहले नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर की होती है। दूसरे की तीन सागर की, तीसरे की सात सागर की, चौथे की दस सागर की, पाँचवें की सत्रह सागर की, छठें की बाईस सागर की एवं सातवें नरक के नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर की होती है।

प्रश्न - नरकों के नारकी जीवों की जघन्य आयु कितनी होती है ?

उत्तर - पहले नरक के नारकी जीवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की होती है। दूसरे की एक सागर की, तीसरे की तीन सागर की, चौथे की सात सागर की, पाँचवें की दस सागर की, छठें की सत्रह सागर की और सातवें नरक के नारकी जीवों की जघन्य आयु बाईस सागर की होती है।

प्रश्न - प्रथम नरक के नारकी जीव मरकर दूसरी पर्याय को प्राप्तकर लगातार कितनी बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - प्रथम नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय को प्राप्तकर लगातार आठ बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - दूसरे नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार कितनी बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - दूसरे नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार सात बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - तीसरे नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार कितनी बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - तीसरे नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार छः बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - चौथे नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार कितनी बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - चौथे नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार पाँच बार उसी नगर में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - पाँचवें नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार कितनी बार उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - पाँचवें नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार चार बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - छठें नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार कितनी बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - छठें नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार तीन बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - सातवें नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार कितनी बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - सातवें नरक के नारकी जीव मरकर अन्य पर्याय प्राप्तकर लगातार दो बार उसी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - नारकी जीवों के कौन-कौन से गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर - नारकी जीवों के मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग् मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान होते हैं। अर्थात् नारकी जीव इन चार गुणस्थानवर्ती होते हैं।

प्रश्न - असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती नारकी जीवों के कौन-कौन सम्यक्त्व हो सकते हैं ?

उत्तर - असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती नारकी जीवों के क्षायिक सम्यक्त्व, वेदकसम्यक्त्व, और उपशामसम्यक्त्व हो सकते हैं।

प्रश्न - क्या सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मरकर नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते हैं।

प्रश्न - सासादन गुणस्थानवर्ती जीव नरक में क्यों नहीं जाते हैं ?

उत्तर - सासादन गुणस्थानवर्ती जीव के नरकायु का बन्ध ही नहीं होता है अत: वे नरक में नहीं जाते हैं।

प्रश्न - क्या असंयतसम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - असंयतसम्यग्दृष्टि जीव मरकर प्रथम पृथ्वी (नरक) में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - असंयतसम्यग्दृष्टि जीव नरक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - किसी जीव ने मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) की अवस्था में नरक आयु का बंध कर लिया हो और तत्पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त किया हो तो ऐसे जीव प्रथम नरक तक उत्पन्न होते हैं। यथा - राजा श्रेणिक के जीव ने सातवें नरक की आयु का बन्ध कर लिया और बाद में सम्यक्त्व को प्राप्त किया तो प्रथम नरक में उत्पन्न होना पड़ा।

प्रश्न - नारकी जीवों के देशविरत आदिक ऊपर के गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर - नारकी जीव अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सहित, हिंसा में आनंद मानने वाले और नाना प्रकार के प्रचुर दु:खों से संयुक्त रहते हैं अत: नारकी जीवों के देशविरत आदिक उपरितन दस गुणस्थानों के हेतुभूत जो विशुद्ध परिणाम हैं वे कदाचित् भी नहीं होते हैं। इसलिए नारकी जीवों के देशविरत आदिक गुणस्थान नहीं होते हैं।

प्रश्न - वज्रवृषभनाराच संहनन वाले जीव कौन से नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - वज्रवृषभनाराच संहनन वाले जीव सातों नरकों में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन और अर्धनाराच संहनन वाले जीव कौन से नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन और अर्धनाराच संहनन वाले जीव सातवें नरक को छोड़कर शेष प्रारम्भ के छ: नरकों में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - कीलित, संहनन वाले जीव कौन से नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - कीलित संहनन वाले जीव सातवें और छठें नरक को छोड़कर शेष प्रारम्भ के पाँच नरकों में उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - सृपाटिका संहनन वाले जीव कौन से नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर - सृपाटिका संहनन वाले जीव प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न - वर्तमान काल में जीव मरकर कौन से नरक तक जा सकते हैं ?

उत्तर - वर्तमान काल में जीव मरकर पाँच नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु बाहुल्यता से तीसरे नरक तक जा सकते हैं।

प्रश्न - मनुष्य और मत्स्य मरकर किस नरक तक जा सकते हैं ?

उत्तर - मनुष्य और मत्स्य मरकर प्रथम नरक से लेकर सातवें नरक तक के किसी भी नरक में जा सकते हैं।

प्रश्न - स्त्रियाँ (महिलायें) मरकर किस नरक तक जा सकती हैं ?

उत्तर - स्त्रियाँ (महिलायें) मरकर प्रथम नरक से लेकर छठें नरक तक के किसी भी नरक में जा सकती हैं।

प्रश्न - प्रथम नरक से लेकर पाँचवें नरक तक कौन-कौन जीव मरकर जा सकते हैं ?

उत्तर - प्रथम नरक से पाँचवें नरक तक किसी भी नरक में सिंह, प्रथम से चौथे नरक तक किसी भी नरक में भुजंग (सर्प), प्रथम से तीसरे नरक तक किसी भी नरक में पक्षी,प्रथम व द्वितीय नरक तक सरीसृप तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मरकर प्रथम नरक तक जा सकते हैं।

प्रश्न - मरकर उसी पर्याय में कौन जीव उत्पन्न नहीं होते हैं ?

उत्तर - देव, नारकी, भोगभूमिज तिर्यञ्च, और भोगभूमिज मनुष्य, ये मरकर उसी पर्याय में उत्पन्न नहीं होते हैं।

प्रश्न - किन जीवों के दाढ़ी मूँछ के बाल नहीं होते हैं ?

उत्तर - सभी प्रकार के देव, नारकी, हलधर (बलभद्र), चक्रवर्ती,तीर्थंकर प्रतिनारायण, व कामदेव इन सब के दाढ़ी मूँछ के बाल नहीं होते हैं।

प्रश्न - नारकी जीवों के कौन सा शरीर होता है ?

उत्तर - नारकी जीवों के वैक्रियिक शरीर होता है।

प्रश्न - नरकादि आयु बंधने के बाद छूटती क्यों नहीं है ?

उत्तर - किसी भी आयु का बंध होने के बाद उसे भोगना अत्यन्त आवश्यक है। परंतु

विशुद्ध परिणामों के माध्यम से घट सकती है तथा संक्लेश परिणामों के माध्यम से बढ़ भी सकती है।

प्रश्न - नरक आयु की प्राप्ति किन कारणों से होती है ?

उत्तर - अत्यन्त संक्लेश परिणामों के होने से, बहुत आरम्भ से, बहुत परिग्रह के होने से, तीव्र कषाय रूप परिणामों से एवं कृष्णादि अशुभ लेश्याओं के माध्यम से नरकगति (आयु) की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - अधोलोक में कितने अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं ?

उत्तर - अधोलोक में सात करोड़ बहत्तर लाख अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं।

मध्यलोक का वर्णन

कुल द्वीप समुद्रों के नाम

जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप-समुद्राः ।।७।।

अर्थ- इस मध्यलोक में (शुभनामान:) अच्छे अच्छे नाम वाले (जम्बूद्वीप-लवणोदादय: द्वीपसमुद्रा:) जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र (सन्ति) हैं।

भावार्थ - सबके बीच में थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, उसके चारों तरफ लवण समुद्र है, उसके चारों तरफ धातकीखण्ड द्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उसके चारों तरफ पुष्करवर द्वीप है, उसके चारों तरफ पुष्करवर समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुये असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। अन्त के द्वीप का नाम स्वयम्भूरमणद्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमणसमुद्र है।

मेरु पर्वत : स्वयम्भूरमण द्वीप और स्वयम्भूरमण समुद्र के/विदेह क्षेत्र के ठीक बीच में मेरु पर्वत है जो एक लाख योजन का है। इसमें से एक हजार योजन जमीन में है। इसके अलावा चालीस योजन की चोटी ओर है। इससे मेरु पर्वत की कुल ऊँचाई एक लाख चालीस योजन हो जाती है। जमीन पर प्रारम्भ में मेरु पर्वत का विस्तार दस हजार योजन है, ऊपर क्रम से घटता गया है। जिस हिसाब से ऊपर घटा है उसी हिसाब से जमीन के भीतर विस्तार बढ़ता गया है।

मानुषोत्तर पर्वत भीतर की ओर सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊँचा है। जमीन पर इसकी चौड़ाई एक हजार बाईस योजन है, मध्य में सात सौ तेईस योजन हैं और ऊपर चार सौ चौबीस योजन हैं। इससे इसका आकार बैठे हुए सिंह के समान हो जाता है। बैठा हुआ सिंह आगे को ऊँचा होता है और पीछे को क्रम से घटता हुआ यह पर्वत भी भीतर की ओर एक समान ऊँचा है और बाहर की ओर यह क्रम से घटता गया है,

जिससे इसका रिपटासा बन गया है।

मेरु पर्वत के तीन काण्ड हैं। पहला काण्ड जमीन से पाँच सौ योजन का दूसरा साढ़े बासठ हजार योजन का और तीसरा छत्तीस हजार योजन का है। प्रत्येक काण्ड के अन्त में एक-एक कटनी है, जिसका विस्तार पाँच सौ योजन है। केवल अन्तिम कटनी का विस्तार छह योजन कम है। एक जमीन पर और तीन मेरु पर्वत पर। इस प्रकार यह चार वनों से घिरा हुआ है। इस वनों के क्रम से भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये नाम हैं। पहली और दूसरी कटनी के बाद ग्यारह हजार योजन तक मेरु पर्वत सीधा गया है, फिर क्रमश: घटने लगता है। मेरु पर्वत के चारों वनों में सोलह अकृत्रिम चैत्यालय हैं और पाण्डुक वन की चारों दिशाओं में चार पाण्डुक शिलाएँ हैं। जिन पर उस उस दिशा के क्षेत्रों में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। इसका रंग पीला है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्वि-र्द्वि-र्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थ- प्रत्येक द्वीप समुद्र (द्विः द्विः) दूने-दूने (विष्कम्भाः) विस्तार वाले (पूर्व-पूर्व) पहिले पहिले के द्वीप समुद्र को (परिक्षेपिणः) घेरे तथा (वलयाकृतयः) चूड़ी के समान आकार वाले (सन्ति) हैं।

द्वीप से समुद्र का और समुद्र से द्वीप का विस्तार दुगुना है तथा द्वीप से द्वीप का और समुद्र से समुद्र का विस्तार चौगुना है। इस प्रकार तीसरे द्वीप का विस्तार १६ लाख योजन और तीसरे समुद्र का विस्तार ३२ लाख योजन है।

जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार

तन्मध्ये मेरु-नाभि-र्वृत्तो योजन-शत-सहस्र-विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

अर्थ- (तन्मध्ये) उन सब द्वीप समुद्रों के बीच में (मेरुनाभिः) सुदर्शन मेरु है नाभि जिसकी ऐसा तथा (वृत्तः) थाली के समान गोल (योजनशतसहस्रवि कम्भः) एक लाख योजन विस्तार वाला (जम्बूद्वीपः) जम्बूद्वीप (अस्ति) है।

प्रश्न - जम्बूद्वीप में क्षेत्र पर्वत आदि कितने हैं ?

उत्तर - जम्बूद्वीप में सुदर्शन नाम का एक मेरु पर्वत है, छः कुलाचल पर्वत हैं, चार यमक गिरी, दो सौ कांचन गिरि, आठ दिग्गज पर्वत, सोलह वक्षार गिरि, चार गजदन्त, चौतीस विजयार्ध पर्वत, चौतीस वृषभाचल, चार नाभिगिरि इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ ग्यारह पर्वत होते हैं।

क्षेत्रों के नाम

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावत-वर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ- जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

प्रश्न - जम्बूद्वीप के इन सात क्षेत्रों में कौन-सी भूमि होती है ?

उत्तर - जम्बूद्वीप के इन क्षेत्रों में भोगभूमि और कर्मभूमि दोनों होती हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में भोगभूमि और कर्मभूमि दोनों होती हैं। विदह क्षेत्र में भोगभूमि और कर्मभूमि दोनों होती हैं। शेष क्षेत्रों में भोगभूमि ही होती है।

प्रश्न - भोगभूमि किसे कहते हैं ?

उत्तर - जहाँ के मनुष्य और तिर्यञ्च दस प्रकार के कल्पवृक्षों से मनवांछित भोग भोगते हैं और जहाँ किसी भी प्रकार की कोई परेशानी नहीं होती है, उसे भोगभूमि कहते हैं।

प्रश्न - भोगभूमि में कौन से दस कल्पवृक्ष होते हैं ?

उत्तर- भोगभूमि में निम्नलिखित कल्पवृक्ष होते हैं - (१) मद्यांग, (२) वादित्र, (३) भूषणांग, (४) मालांग, (५) दीपांग, (६) ज्योतिरांग, (७) गृहरांग, (८) भोजनांग, (९) भाजनांग, और (१०) वस्त्रांग।

प्रश्न - भोगभूमियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर - भोगभूमियाँ दो प्रकार की होती हैं। शाश्वत भोगभूमि और अशाश्वत भोगभूमि।

प्रश्न - शाश्वत भोगभूमि कहाँ पर होती है ?

उत्तर - हेमवतक्षेत्र में, हरिक्षेत्र में, रम्यकक्षेत्र में, हैरण्यवतक्षेत्र में, देवकुरु और उत्तरकुरु में शाश्वत भोगभूमियाँ होती हैं।

प्रश्न - अशाश्वत भोगभूमि कहाँ होती हैं ?

उत्तर - भरत क्षेत्र में, और ऐरावत क्षेत्र में अशाश्वत भोगभूमियाँ होती हैं।

प्रश्न - भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भोगभूमि की रचना कब होती है ?

उत्तर - भरत और ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल के पहले, दूसरे तथा तीसरे काल में भोगभूमि की रचना होती है और उत्सर्पिणी काल के चौथे, पाँचवें और छठें काल में भोगभूमि की रचना होती है, क्योंकि अवसर्पिणी काल से उत्सर्पिणी काल उल्टा चलता है।

प्रश्न - भोगभूमि का काल कितना होता है ?

उत्तर - अठारह कोड़ाकोड़ी सागर तक भोगभूमि की रचना होती है।

प्रश्न - भोगभूमि में कौन जीव जन्म लेते हैं ?

उत्तर - पाँच पापों के त्यागने वाले, मन्द कषाय वाले, ब्रह्मचारी, मुनि को आहार दान देने वाले, व्रतों को धारण करने वाले, मुनिभक्त और निर्मल परिणाम वाले जीव भोगभूमि में जन्म लेते है।

प्रश्न - भोगभूमि के जीवों का मरण कब होता है ?

उत्तर - भोगभूमि में जब बच्चों (जुड़वाँ) का जन्म होता है तब उसी समय पति पत्नी दोनों की मृत्यु हो जाती है। पुरुष को केवल छींक आती है और स्त्री को केवल जंभाई आती है और कोई कष्ट नहीं होता है। शरद ऋतु के बादलों के समान उनके शरीर उसी समय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

प्रश्न - अशाश्वत भोगभूमियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर - अशाश्वत भोगभूमियाँ उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार की होती हैं। प्रथम काल में उत्तम भोगभूमि, द्वितीय काल में मध्यम भोगभूमि और तृतीय काल में जघन्य भोगभूमि होती है।

प्रश्न - जघन्य भोगभूमि के जीव किस क्रम से बढ़ते हैं ?

उत्तर - जन्म के पश्चात् बच्चा शय्या पर सोते-सोते सात दिन तक अंगूठा चूसता है, फिर दूसरे सप्ताह तक घुटने के बल पर चलता है, तीसरे सप्ताह में मीठी-मीठी तोतली भाषा बोलता है, चौथे सप्ताह में पैरों को जमाकर चलने लगता है, पाँचवें सप्ताह में कला और रूप आदि गुणों वाला हो जाता है, छठे सप्ताह में युवावस्था को प्राप्त हो जाता है और सातवें सप्ताह में सम्यग्दर्शन के धारण करने के योग्य हो जाता है।

प्रश्न - मध्यम भोगभूमि के जीव किस क्रम से बढ़ते हैं ?

उत्तर - जन्म के पश्चात् बच्चा शय्या पर सोते-सोते पाँच दिन तक अंगूठा चूसता है, फिर पाँच दिन तक घुटने के बल पर चलता है, फिर पाँच दिन में मीठी-मीठी तोतली भाषा बोलता है, फिर पाँच दिन में पैरों को जमाकर चलने लगता है, फिर पाँच दिन में कला और रूप आदि गुणों वाला हो जाता है, फिर पाँच दिन में युवावस्था को प्राप्त हो जाता है और फिर पाँच दिन में सम्यग्दर्शन के धारण करने के योग्य हो जाता है।

प्रश्न - उत्तम भोगभूमि के जीव किस क्रम से बढ़ते हैं ?

उत्तर - जन्म के पश्चात् बच्चा शय्या पर सोते-सोते तीन दिन तक अंगूठा चूसता है, फिर तीन दिन तक घुटने के बल पर चलता है, फिर तीन दिन में मीठी-मीठी तोतली भाषा बोलता है, फिर तीन दिन में पैरों को जमाकर चलने लगता है, फिर तीन दिन में कला और रूप आदि गुणों वाला हो जाता है, फिर तीन दिन में युवावस्था को प्राप्त हो जाता है और फिर तीन दिन में सम्यग्दर्शन के धारण करने के योग्य हो जाता है।

प्रश्न - भोगभूमि के मनुष्यों का बल किसके समान होता है ?

उत्तर - भोगभूमि के मनुष्यों का बल नौ हजार हाथियों के बराबर होता है।

प्रश्न - भोगभूमि की क्या विशेषता है ?

उत्तर - भोगभूमि में विकलत्रय जीव नहीं होते, सर्प, बिच्छू आदि विषैले जन्तु नहीं होते, वहाँ ऋतुओं का परिवर्तन नहीं होता, भोगभूमि के मनुष्यों को न तो बुढ़ापा आता है, न कोई रोग होता है, न निद्रा, न चिन्ता ही होती है, शरीर में कभी भी कोई रोग नहीं होता इत्यादि विशेषताएँ भोगभूमि में होती है।

प्रश्न - भोगभूमि का सुख किससे अधिक होता है ?

उत्तर - भोगभूमि का सुख चक्रवर्ती के सुख से भी अधिक होता है, वहाँ के मनुष्यों को समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है।

प्रश्न - भोगभूमि के जीव मरकर कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - भोगभूमि के मिथ्यादृष्टि जीव मरकर भवनत्रिक (भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क) में उत्पन्न होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव पहले और दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न - भोगभूमि के जीवों का आहार कैसा होता है ?

उत्तर - उत्तम भोगभूमि में मनुष्यों का भोजन बदरीफल के बराबर होता है, मध्यम भोगभूमि में बहेड़ा के समान और जघन्य भोगभूमि में आंवले के समान आहार होता है।

प्रश्न - भोगभूमिज जीवों की आयु व शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - उत्तम भोगभूमिज जीवों की आयु तीन पल्य तथा शरीर की ऊँचाई तीन कोस की होती है। मध्यम भोगभूमिज जीवों की आयु दो पल्य तथा शरीर की ऊँचाई दो कोस की होती है। जघन्य भोगभूमिज जीवों की आयु एक पल्य तथा शरीर की ऊँचाई एक कोस की होती है।

प्रश्न - भोगभूमि के जीवों का आहार कितने समय के बाद होता है ?

उत्तर - उत्तम भोगभूमि के जीवों का चौथे दिन बेर फल के समान थोड़ा सा आहार होता है/लेते हैं। मध्यम भोगभूमि के जीवों का तीसरे दिन बहेड़ा फल के समान आहार होता है और जघन्य भोगभूमि के जीवों का दूसरे दिन आंवले के समान आहार होता है।

प्रश्न - भोगभूमि के जीवों को सम्यक्त्व किन कारणों से उत्पन्न होता है ?

उत्तर - भोगभूमि के जीवों को जातिस्मरण, देव के उपदेश तथा सुखदु:ख अवलोकन एवं जिन-प्रतिमा दर्शन और स्वभाव से भव्य जीवों को सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह कुलाचलों के नाम

तद्-विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नीलरुक्मि-शिखरिणो वर्षधर-पर्वताः ॥११॥

अर्थ- (तद्विभाजिन:) उन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले (पूर्व-अपर-आयता:) पूर्व से पश्चिम तक लम्बे (हिमवन्) हिमवत्, (महाहिमवन्) महाहिमवत् (निषध) निषध, (नील) नील, (रुक्मि शिखरिण:) रुक्मिन् और (शिखरिण:) शिखरिन् ये छह (वर्षधरपर्वता:) वर्षधर (कुलाचल) पर्वत हैं। वर्ष (क्षेत्रों) के विभाग को बनाये रखने के कारण इन्हें वर्षधर कहते हैं।

क्षेत्र और पर्वत : जम्बूद्वीप में मुख्यतया सात क्षेत्र हैं, जो उनके बीच में पड़े हुए छह पर्वतों से विभक्त हैं। ये पर्वत वर्षधर कहलाते हैं। ये सभी पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं। पहला क्षेत्र भरतवर्ष है जो दक्षिण में है। इससे उत्तर में हैमवतवर्ष है। इन दोनों का विभाग करने वाला पहला हिमवान् पर्वत है। तीसरा क्षेत्र हरिवर्ष है जो हैमवतवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करने वाला महाहिमवान् पर्वत है। चौथा क्षेत्र विदेहवर्ष है जो हरिवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करने वाला निषधपर्वत है। पाँचवाँ क्षेत्र रम्यकवर्ष है जो विदेहवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करने वाला नीलपर्वत है। छठा क्षेत्र हैरण्यवतवर्ष है जो रम्यकवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करने वाला रुक्मीपर्वत है। तथा सातवाँ क्षेत्र ऐरावतवर्ष है जो हैरण्यवतवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों क्षेत्रों को विभक्त करने वाला शिखरी पर्वत है।

कुलाचलों के वर्ण (रंग)

हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः ॥१२॥

अर्थ- ये पर्वत क्रम से (हेम) सुवर्ण, (अर्जुन) चांदी, (तपनीय) तपाये हुये सुवर्ण, (वैडूर्य) वैडूर्य (नील) मणि, (रजत) चांदी और (हेममया:) सुवर्ण के समान वर्ण वाले (सन्ति) हैं। किन्तु ये सुवर्ण आदिक के नहीं हैं।

प्रश्न - कुलाचल पर्वतों के रंग किसके समान होते हैं ?

उत्तर - हिमवन् कुलाचल स्वर्ण के समान, महाहिमवन् कुलाचल चाँदी के समान, निषध कुलाचल तपाये स्वर्ण के समान, नील कुलाचल वैडूर्यमणी के समान, रुक्मि कुलाचल चाँदी के समान और शिखरी कुलाचल स्वर्ण के समान रंग (वर्ण) होते हैं।

पर्वतों की विशेषता

मणि-विचित्र-पार्श्वा उपरिमूले च तुल्य-विस्ताराः ॥१३॥

अर्थ- ये पर्वत (मणिविचित्रपार्श्वाः) दोनों पार्श्वों (बाजुओं) में तरह-तरह की मणियों से खचित (उपरि मूले च) ऊपर, नीचे और मध्य में (तुल्यविस्ताराः) एक समान (बराबर) विस्तार वाले (सन्ति) हैं।

पर्वतों पर स्थित तालाबों के नाम

पद्म-महापद्म-तिगिंछ-केशरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्तेषा-मुपरि ॥१४॥

अर्थ- (तेषाम् उपरि) उन पर्वतों के ऊपर क्रम से (पद्म) पद्म, (महापद्म) महापद्म, (तिगिंछ) तिगिंछ, (केशरि) केशरिन्, (महापुण्डरीक) महापुण्डरीक और (पुण्डरीकाः)पुण्डरीक ये छह (ह्रदाः) तालाब (सन्ति) हैं।

विशेषार्थ- हिमवत् पर्वत के ऊपर पद्म नामक तालाब है। महाहिमवत् पर्वत के ऊपर महापद्म नामक तालाब है। निषध पर्वत के ऊपर तिगिंछ नामक तालाब है। नील पर्वत के ऊपर केशरिन् नामक तालाब है। रुक्मि पर्वत के ऊपर महापुण्डरीक नामक तालाब है। शिखरी पर्वत के ऊपर पुण्डरीक नामक तालाब है।

प्रथम तालाब की लम्बाई चौड़ाई

प्रथमो योजन-सहस्रायामस् तदर्ध विष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

अर्थ- (प्रथमः ह्रदः) पहला पद्म तालाब (योजनसहस्रायामः) एक हजार महायोजन लम्बा और (तदर्धविष्कम्भः) लम्बाई से आधा (पांच सौ महायोजन) चौड़ा (विद्यते) है।

प्रश्न - पद्म सरोवर की लम्बाई चौड़ाई कितनी होती है ?

उत्तर - पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा पाँच सौ योजन चौड़ा और दस योजन गहरा है तथा उसमें एक योजन का कमल होता है।

विशेषार्थ- दो हजार कोस का एक महायोजन होता है।

प्रथम तालाब की गहराई

दश-योजनावगहा: ॥१६॥

अर्थ- पहला तालाब दश महायोजन गहरा है।

प्रथम तालाब की विशेषता

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

अर्थ- (तन्मध्ये) पद्म सरोवर के बीच (योजनम्) एक योजन लम्बा और चौड़ा (पुष्करम्) एक कमल (अस्ति) है।

विशेष - यह कमल वनस्पतिकाय का नहीं है, किन्तु कमल के आकार की पृथ्वी है। अर्थात् यह कमल पृथ्वीकाय का है।

यह कमल पृथिवीमय है। इसके अलावा परिवार कमल एक लाख चालीस हजार और एक सौ पचास है, जिनका उत्सेध आदि मुख्य कमल से आधा है। एक तालाब पर एक लाख चालीस हजार और एक सौ पचास के लगभग कमल हैं। उनमें देव रहते हैं।

द्वितीयादि तालाबों और कमलों का विस्तार

तद्-द्विगुण-द्विगुणा ह्रदा: पुष्कराणि च ॥१८॥

अर्थ- (ह्रदा: पुष्कराणि च) आगे के तालाब और कमल क्रम से (तद्द्विगुणद्विगुणा:) प्रथम तालाब से तथा उसके कमलों से दूने दूने विस्तार वाले (सन्ति) हैं।

नोट- दूने दूने का क्रम तिगिञ्छ नामक तीसरे तालाब तक ही है। उसके आगे तीन तालाब और तीन कमल दक्षिण के तालाबों और कमलों के समान विस्तार वाले हैं।

कमलों पर निवास करने वाली देवियाँ

तन्-निवासिन्यो देव्य: श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्य: पल्योपमस्थितय: ससामानिक-परिषत्का: ॥१९॥

अर्थ- (पल्योपमस्थितय:) एक पल्य की आयु वाली तथा (ससामानिक-परिषत्का:) सामानिक और परिषत्क जाति के देवों से सहित (श्रीह्रीधृतिकीर्ति-बुद्धि लक्ष्म्य:) श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक (देव्य:) देवियाँ, क्रम से (तन्निवासिन्य:) उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं।

प्रश्न - कमल की कर्णिकाओं में स्थित महलों में किनका निवास रहता है ?

उत्तर - कमल की कर्णिकाओं में स्थित महलों में श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और

लक्ष्मी ये छ: प्रकार की देवियाँ ससामानिक और पारिषद् जाति के देवों के साथ रहती हैं। उनकी एक पल्य की आयु होती है।

ये छहों व्यन्तर देव की देवियाँ होती हैं। तीन देवियाँ सौधर्म-इन्द्र की आज्ञा में तथा तीन देवियाँ ऐशान-इन्द्र की आज्ञा में रहती हैं।

चौदह महानदियों के नाम

गङ्गासिन्धु-रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारीनर-कान्ता-सुवर्ण-रूप्यकूला-रक्तारक्तोदा: सरितस्तन्मध्यगा: ॥२०॥

अर्थ- गङ्गा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदियाँ जम्बूद्वीप के पूर्वोक्त ७ क्षेत्रों के बीच बहती हैं।

गंगा आदि नदियों का विशेष वर्णन : उक्त सात क्षेत्रों में चौदह नदियाँ बही हैं। जिनमें से भरतवर्ष में गंगा और सिन्धु, हैमवतवर्ष में रोहित् और रोहितास्या, हरिवर्ष में हरित् और हरिकान्ता, विदेहवर्ष में सीता और सीतोदा, रम्यकवर्ष में नारी और नरकान्ता, हैरण्यवतवर्ष में सुवर्णकूला और रूपयकूला तथा ऐरावतवर्ष में रक्ता और रक्तोदा-ये चौदह नदियाँ बहीं हैं।

प्रश्न- किस तालाब से कौन सी नदियाँ निकली हैं।

उत्तर - पद्म सरोवर से गंगा, सिन्धु और रोहितास्या ये तीन नदियाँ निकलती हैं। पुण्डरीक सरोवर से सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा ये तीन नदियाँ निकलती हैं। महापद्म सरोवर से - रोहित और हरिकान्ता, तिगिंछ सरोवर से - हरित् और सीतोदा, केसरी सरोवर से - सीता और नरकान्ता तथा महापुण्डरीक सरोवर से - नारी और रुप्यकूला ये नदियाँ निकलती हैं।

महापद्म तालाब से रोहित् और हरिकान्ता, तिगिञ्छ तालाब से हरित और सीतोदा, केसरी तालाब से सीता और नरकान्ता, महापुण्डरीक तालाब से नारी और रूप्यकूला।

तालाब व्यवस्था

क्र.	नाम	लम्बाई	चौडाई	गहराई	देवी
१	पद्म	१००० म. यो.	५०० यो.	१०म. यो.	श्री
२	महापद्म	२००० म. यो.	१००० यो.	२०म. यो.	ह्री
३	तिगिंछ	४००० म. यो.	२००० यो.	४०म. यो.	धृति
४	केशरी	४००० म. यो.	२००० यो.	४०म. यो.	कीर्ति

५	महापुण्डरीक	२००० म. यो.	१००० यो.	२०म. यो.	बुद्धि
६	पुण्डरीक	१००० म. यो.	५०० यो.	१०म. यो.	लक्ष्मी

पूर्व की ओर बहने वाली नदियाँ

द्वयो र्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

अर्थ- (द्वयोः द्वयोः) गंगा सिन्धु इत्यादि दो दो नदियों में से (पूर्वाः) पहली-पहली नदी (पूर्वगा) पूर्व समुद्र को जाती है। अर्थात् गङ्गा, रोहित, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियाँ पूर्व-समुद्र में जाकर मिलती हैं।

प्रश्न - पूर्वी समुद्रों में जाकर कौन-कौन सी महानदियाँ मिलती हैं ?

उत्तर - (१) गंगा, (२) रोहित, (३) हरित्, (४) सीता, (५) नारी, (६) सुवर्णकूला और (७) रक्ता ये सात महानियाँ पूर्वी समुद्र में जाकर मिलती हैं।

पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

अर्थ- (शेषाः) प्रत्येक जोड़े की दूसरी-दूसरी नदियाँ (अपरगाः) पश्चिम की ओर जाती हैं। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियाँ पश्चिम समुद्र में जाकर मिलती हैं।

प्रश्न - पश्चिम समुद्र में जाकर कौन-कौन सी महानदियाँ मिलती हैं ?

उत्तर - (१) सिन्धु (२) रोहितास्या (३) हरिकान्ता (४) सीतोदा (५) नरकान्ता (६) रूप्यकूला और (७) रक्तोदा ये सात नदियाँ पश्चिमी समुद्र में जाकर मिलती हैं।

महानदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दश-नदी-सहस्र-परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अर्थ- (गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः) गंगा और सिन्धु आदि नदियों के युगल (चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः) चौदह-चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुये हैं।

विशेषार्थ- गंगा नदी से १४,००० सिन्धु नदी से १४,००० रोहित नदी से २८,०००, रोहितास्या नदी से २८,०००, हरित् नदी से ५६,०००, हरिकान्ता नदी से ५६,०००, सीता नदी से १,१२,०००, सीतोदा नदी से १,१२,०००, नारी नदी से ५६,०००, नरकान्ता नदी से ५६,०००, सुवर्णकूला नदी से २८,०००, रूप्यकूला नदी २८,०००, रक्ता नदी से १४,००० और रक्तोदा नदी से १४,००० महानदियाँ निकली हैं।

नोट- सहायक नदियों के क्रम भी विदेह क्षेत्र तक आगे आगे के युगलों में पूर्व के युगलों से दूना दूना है। और उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के तीन क्षेत्रों के समान हैं।

देवकुरु और उत्तर कुरु में = १६८००० नदियाँ सम्पूर्ण नदियाँ = १४७८००० हैं। जम्बूद्वीप में नदियाँ = १७९२०९० (परिवार नदियाँ = १७९२०००, प्रमुख नदियाँ = ९०) विदेह क्षेत्रस्थ नदियाँ ६४ गंगासिन्धु और रोहित् रोहितास्या की कुल परिवार नदियाँ (१४००० x ६४) = ८९६०००, १२ विभंग की कुल परिवार नदियाँ (२८००० x १२) = ३३६००, देवकुरु उत्तर कुरु गत सीतासीतोदा की परिवार नदियाँ (८४००० x २) = १६८००० + ७८ = १४०००७८ नदियाँ हैं।

भरतक्षेत्र का विस्तार

भरतः षड् विंशति-पञ्चयोजन-शत-विस्तारः षट् चैकोन-विंशति-भागा योजनस्य ॥२४॥

अर्थ- (भरत:) भरतक्षेत्र (षड् विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तार:) पांच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला (च) और (योजनस्य) एक योजन के (एकोनविंशतिभागा:) उन्नीस भागों में से (षट्) छह भाग अधिक है।

भावार्थ- भरतक्षेत्र का दक्षिण से उत्तर तक विस्तार ५२६.६/१९ योजन है।

द्वितीयादिक क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार

तद्‌द्विगुण-द्विगुणा विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

अर्थ- (विदेहान्ता:) विदेहक्षेत्र पर्यन्त के (वर्षधरवर्षा:) पर्वत और क्षेत्र (तद्विगुणद्विगुणा:) भरतक्षेत्र से दूने दूने विस्तार वाले (सन्ति) हैं।

विदेहक्षेत्र से आगे के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा दक्षिण-तुल्याः ॥२६॥

अर्थ- (उत्तरा:) उत्तर के ऐरावत से लेकर नील तक जितने क्षेत्र और पर्वत आदि हैं उनका विस्तार वगैरह (दक्षिणतुल्या:) दक्षिण के क्षेत्र और पर्वत आदि के समान है।

भरतादि क्षेत्र एवं हिमवान आदि पर्वतों का विस्तार

१ क्षेत्र	=	भरत	= ५२६.६/१९	योजन	२८००२ नदियाँ
१ पर्वत	=	हिमवान्	= १०५२.१२/१९	योजन	
२ क्षेत्र	=	हैमवत	= २१०५.५/१९	योजन	५६००२ नदियाँ
२ पर्वत	=	महाहिमवान्	= ४२१०.१०/१९	योजन	
३ क्षेत्र	=	हरि	= ८४२१.१/१९	योजन	११२००२ नदियाँ
३ पर्वत	=	निषध	= १६८४२.२/१९	योजन	
४ क्षेत्र	=	विदेह	= ३३६८४.४/१९	योजन	१४०००७८ नदियाँ

४ पर्वत	= नील	= १६८४२.२/१९ योजन		
५ क्षेत्र	= रम्यक	= ८४२१.१/१९	योजन	११२००२ नदियाँ
५ पर्वत	= रुक्मिन्	= ४२१०.१०/१९ योजन		
६ क्षेत्र	= हैरण्यवत्	= २१०५.५/१९	योजन	५६००२ नदियाँ
६ पर्वत	= शिखरिन्	= १०५२.१२/१९ योजन		
७ क्षेत्र	= ऐरावत	= ५२६.६/१९	योजन	२८००२ नदियाँ

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन

भरतैरावतयो-र्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।।२७।।

अर्थ- (षट्समयाभ्याम्) छह कालों से युक्त (उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा (भरतैरावतयो:) भरत और ऐरावत क्षेत्र में (वृद्धिह्रासौ) जीवों की आयु, ऊँचाई भोगोपभोग, सम्पदा और सुख आदि की घटती तथा घटती (जायेते) होती रहती है।

विशेषार्थ- बीस कोड़ाकोडी सागर का एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। प्रत्येक काल के छह-छह भेद होते हैं।

उत्सर्पिणी - जिसमें जीवों की आयु आदि की वृद्धि होती है। अवसर्पिणी- जिसमें जीवों की आयु का ह्रास होता है।

उत्सर्पिणी काल के छह भेद - दुष्षम दुष्षमा, दुष्षमा, दुष्षम सुषमा, सुषम दुष्षमा सुषमा और सुषम सुषमा।

अवसर्पिणी के छह भेद - सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदु:षमा, दु:षमसुषमा, दु:षमा और अतिदु:षमा।

सुषमसुषमा-चार कोड़ाकोड़ी सागर का सुषमा-तीन कोड़ाकोड़ी सागर का, सुषमदु:षमा-दो कोड़ाकोड़ी सागर का, दु:षमसुषमा-व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष का, दु:षमा इक्कीस हजार वर्ष का, अतिदु:षमा- इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

उत्सर्पिणी के प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में तथा अवसर्पिणी के चतुर्थ, पंचम और षष्ठ काल में कर्मभूमि रहती है। शेष काल में भोगभूमि रहती है।

प्रश्न - चतुर्थ से लेकर छठें काल तक कौन सी भूमि होती है ?

उत्तर - चतुर्थ से लेकर छठें काल तक कर्मभूमि होती है।

प्रश्न - तीर्थंकर आदि महापुरुष कौन से काल में उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - तीर्थंकर आदि महापुरुष चतुर्थ काल में उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न - महापुरुष कितने होते है ?

उत्तर - महापुरुष एक सौ उनहत्तर होते हैं।

प्रश्न - एक सौ उनहत्तर महापुरुष कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर - २४ तीर्थंकर, २४ तीर्थंकर के पिता, २४ तीर्थंकर की माता, २४ कामदेव, १२ चक्रवती, ११ रुद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ नारद, ९ बलभद्र और १४ कुलकर ये एक सौ उनहत्तर महापुरुष होते हैं। कुलकरों का जन्म तीसरे काल के अन्त में होता है।

प्रश्न - त्रेशठशला के पुरुष कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर - २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र ये त्रेशठशला के पुरुष कहलाते हैं।

प्रश्न - पंचम काल के मनुष्य किस प्रकार के होते हैं ?

उत्तर - पंचम काल के मनुष्य हीन संहनन वाले, भ्रष्ट आचरण करने वाले होते हैं। इस काल के मनुष्य कर्म को नष्ट कर मोक्ष नहीं जा सकते हैं। अधिकतर मनुष्य दु:ख के भोगने वाले होते हैं।

प्रश्न - छठें काल में मनुष्य किस प्रकार के होंगे ?

उत्तर - छठें काल के मनुष्य धर्म कर्म से रहित होंगे। दया, क्षमा, व्रत आदि गुणों का नाम भी नहीं रहेगा, सभी मनुष्य मांसाहारी होंगे। काल के अन्त में मनुष्य एक हाथ के लम्बे शरीर वाले होंगे और मनुष्य बड़े पापी, नंगे, शरीर का वर्ण काला, गूंगे, बहरे और अंधे तथा कुरूप व पशु के समान स्वभाव वाले होंगे।

प्रश्न - छठें काल के अन्त में किस प्रकार का वातावरण होगा ?

उत्तर - छठें काल के उनच्चास दिन शेष रहने पर क्रमश: शीत, क्षार, विष, वज्र अग्नि, धूल और धूम्र इस प्रकार की सात प्रकार की सात-सात दिन तक भयंकर वर्षायें होंगी, जिससे सारी पृथ्वी पर महान प्रलय हो जायेगा। एक एक योजन तक पृथ्वी जल जायेगी, जल और अग्नि से पृथ्वी भस्म हो जायेगी। इस महाप्रलय से अत्यधिक जीव मर जायेंगे।

प्रश्न - उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ कब से होगा ?

उत्तर - श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होगा। इस उत्सर्पिणी काल के प्रारंभ से उनच्चास दिन तक सात तरह की वर्षायें होगी। जैसे - जल, दूध,

घृत, अमृत, सुगंधित पवन आदि की सात सप्ताह तक शुभ वर्षायें होंगी। उससे सभी जगह शांति स्थापित होगी। वह दिन भाद्र शुक्ला पंचमी का होगा।

प्रश्न - हुण्डावसर्पिणी काल कब आता है ?

उत्तर - असंख्यात अवसर्पिणी काल के बीतने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है, इस काल में कुछ विशेष घटनायें होती हैं।

प्रश्न - हुण्डावसर्पिणी काल में किस प्रकार की घटनायें घटी थीं ?

उत्तर - हुण्डावसर्पिणी काल में निम्न घटनायें घटी थीं। यथा - (१) तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान के पुत्रियाँ हुई थीं। (२) सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर भगवान के ऊपर उपसर्ग हुआ था। (३) तीर्थंकरों के जन्म और मोक्ष-अयोध्या और सम्मेद शिखर के सिवाय अन्य क्षेत्रों से हुए। (४) भरत चक्रवर्ती का मान खण्डित हुआ। (५) त्रेशठशला के पुरुषों में कमी हुई थी। इत्यादि असंभव घटनायें घटी थीं।

प्रश्न - अवसर्पिणी काल में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - अवसर्पिणी काल के प्रथमकाल में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन कोस की, दूसरे काल में दो कोस की, तीसरे काल में एक कोस की, चतुर्थ काल के प्रारंभ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष की, पाँचवें काल में सात हाथ तथा छठें काल के अन्तिम समय में मनुष्य के शरीर की ऊँचाई एक हाथ की रहेगी।

प्रश्न - अवसर्पिणी काल में मनुष्यों के शरीर का वर्ण (रंग) कैसा होता है ?

उत्तर - पहले काल में मनुष्यों के शरीर का वर्ण उगते हुए सूर्य के समान था, दूसरे काल में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल सफेद कांति युक्त वर्ण वाले मनुष्य थे, तीसरे काल में मनुष्यों के शरीर का वर्ण हरित और श्याम वर्ण के समान थे, चतुर्थ काल में पाँच वर्ण वाले मनुष्य होते हैं, पाँचवें काल के मनुष्य भी पाँच वर्ण के होते हैं और वे कांति व तेज रहित होते हैं, छठें काल में धुएं के समान काले वर्ण वाले कुरूप मनुष्य होवेंगे।

प्रश्न - षट् कालों में मनुष्यों की आयु कितनी होती है ?

उत्तर - मनुष्यों की आयु पहले काल में तीन पल्य की थी, दूसरे काल में दो पल्य की थी, तीसरे काल में एक पल्य की थी, चौथे काल के प्रारंभ में एक कोटि पूर्व की आयु थी, पाँचवें काल में एक सौ बीस वर्ष की आयु है और छठें काल के अंतिम समय में केवल पन्द्रह वर्ष की आयु होगी।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में इन छह भेदों सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का परिवर्तन होता रहता है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल होता है। अभी हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र के म्लेच्छ खण्डों तथा विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में अवसर्पिणी काल के चतुर्थ काल के आदि से लेकर अन्त तक परिवर्तन होता है। और उत्सर्पिणी काल के समय तृतीयकाल के अन्त से लेकर आदि तक परिवर्तन होता है। इनमें आर्यखण्डों की तरह छहों कालों का परिवर्तन नहीं होता और न इनमें प्रलयकाल ही पड़ता है।

प्रश्न - विजयार्ध पर्वत कहाँ पर है ?

उत्तर - भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है, वह पच्चीस योजन ऊँचा और मूल में इससे दूना विस्तार वाला है।

प्रश्न - भरत क्षेत्र के छः खण्ड किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर - विजयार्ध पर्वत के कारण भरत क्षेत्र के दो भाग हो जाते हैं। एक उत्तर भाग दूसरा दक्षिण भाग। प्रत्येक भाग की नदियों से तीन तीन खण्ड होते हैं। इस प्रकार भरत क्षेत्र के उत्तर में तीन और दक्षिण में तीन ये छः खण्ड होते हैं। विजयार्ध के उत्तर में तीनों म्लेच्छ खण्ड हैं और दक्षिण में दो म्लेच्छ खण्ड और एक बीच में आर्य खण्ड है।

प्रश्न - चक्रवर्ती अपने नाम कौन से पर्वत पर लिखते हैं ?

उत्तर - चक्रवर्ती अपने नाम वृषभाचल पर्वत पर लिखते हैं।

अन्यभूमियों की काल-व्यवस्था

ताभ्या-मपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

अर्थ- (ताभ्याम्) उन भरत और ऐरावत क्षेत्र से (अपराः) अन्य (भूमयः) क्षेत्र (अवस्थिताः) घटती बढ़ती रहित (भवन्ति) होते हैं। उनमें काल का परिवर्तन अथवा हानि और वृद्धि नहीं होती है।

विशेषार्थ- हेमवत और हैरण्यवतक्षेत्र में तीसरा काल, हरि और रम्यक क्षेत्र में द्वितीय काल, देवकुरु और उत्तरकुरु (विदेह के अन्तर्गत) क्षेत्र में प्रथम सदैव चलता है।

हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु

एकद्वित्रि पल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥२९॥

अर्थ- (हैमवतक) हैमवत, (हारि) हरि और (देवकुरवकाः) देवकुरु (विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के निवासी मनुष्य वा तिर्यञ्चों की आयु क्रम से (एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयः) एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की (भवति) होती है।

विशेषार्थ- हैमवत क्षेत्र के प्राणियों की स्थिति एक पल्य प्रमाण होती है। यहाँ निरन्तर उत्सर्पिणीकाल का चौथा या अवसर्पिणीकाल का तीसरा काल प्रवर्तता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष होती है। रंग नीलवर्ण होता है और वे एक दिन के अन्तराल से भोजन करते हैं।

हरिवर्ष क्षेत्र के प्राणियों की स्थिति दो पल्य प्रमाण होती है। यहाँ निरन्तर उत्सर्पिणीकाल का पाँचवाँ या अवसर्पिणीकाल का दूसरा काल प्रवर्तता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष होती है। रंग शुक्ल होता है और वे दो दिन के अन्तराल से भोजन करते हैं।

देवकुरु क्षेत्र के प्राणियों की स्थिति तीन पल्य प्रमाण होती है। यहाँ निरन्तर उत्सर्पिणीकाल का छठा और अवसर्पिणीकाल का पहला काल प्रवर्तता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष होती है, रंग पीत होता है और वे तीन दिन के अन्तराल से भोजन करते हैं।

हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु

तथोत्तराः ॥३०॥

अर्थ- उत्तर के क्षेत्रों के मनुष्यों और तिर्यञ्चों की आयु हैमवत आदि क्षेत्रों के मनुष्यों वा तिर्यञ्चों के समान होती है।

विशेषार्थ- उत्तरकुरु में आयु आदि देवकुरु के समान, रम्यक में हरिवर्ष के समान और हैरण्यवत में हैमवत के समान काल है। विदेहक्षेत्र की चर्चा सूत्र नं ३१ में की है।

इस प्रकार उत्तम, मध्यम और जघन्यरूप तीनों भोगभूमियों के दो-दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप में छह भोगभूमियाँ, धातकीखण्ड में बारह भोगभूमियाँ और पुष्करार्ध में भी बारह भोगभूमियाँ हैं। इस प्रकार अढाई द्वीप में कुल ३० भोगभूमियाँ हैं। जिसमें सब तरह की भोगोपभोग की सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं अथवा जहाँ भोगों की ही प्रधानता होती है उसे भोगभूमि कहते हैं।

विदेह क्षेत्र में आयु

विदेहेषु संख्येय-कालाः ॥३१॥

अर्थ- (विदेहेषु) विदेह क्षेत्र में मनुष्यों और तिर्यञ्चों की आयु (संख्येयकालाः) संख्यात वर्ष की होती है।

विदेह क्षेत्र में उत्सर्पिणीकाल का तीसरा या अवसर्पिणीकाल का चौथा काल सदा अवस्थित है। इसमें मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है और उत्कृष्ट

आयु एक पूर्व कोटि प्रमाण होती है। प्राय: इसी काल से जीव मुक्ति लाभ करते हैं। विदेह क्षेत्र में यह काल सदा रहता है इसलिये यहाँ से जीव हमेशा मोक्ष जाते हैं।

प्रश्न - विदेह क्षेत्र कहाँ पर है ?

उत्तर - निषध पर्वत के उत्तर में और नील पर्वत के दक्षिण में अर्थात् इन दोनों पर्वतों के मध्य में सबसे बड़ा विदेह क्षेत्र है। यह जम्बूद्वीप के बीच के हिस्से से बड़ा है।

प्रश्न- विदेह क्षेत्र में हमेशा क्या होता रहता है ?

उत्तर - विदेह क्षेत्र में हमेशा चौथा काल रहता है। जिससे वहाँ नित्य तीर्थंकर, चक्रवर्ती, केवली, नारायण, ऋद्धिधारी मुनि, बलदेव, मण्डलीक, अर्धमण्डलीक आदि राजा होते ही रहते हैं। तथा मोक्ष की प्राप्ति भी होती रहती है।

भरत क्षेत्र का विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवति-शत-भाग: ।।३२।।

अर्थ- (भरतस्य विष्कम्भ:) भरतक्षेत्र का विस्तार (जम्बूद्वीपस्य) जम्बूद्वीप के (नवतिशतभाग:) एक सौ नब्बे वाँ भाग है।

विशेषार्थ - २४ वें सूत्र में भरतक्षेत्र का जो विस्तार बलताया है उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है। केवल कथन करने का प्रकार दूसरा है। यदि एक लाख के बराबर एक सौ नब्बे हिस्से किये जावें तो उनमें हर एक हिस्से का प्रमाण ५२६.६/१९ योजन होता है।

धातकीखण्ड द्वीप की रचना

द्विर्धातकी-खण्डे ।।३३।।

अर्थ- धातकीखण्ड नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी आदि समस्त पदार्थ जम्बूद्वीप से दूने-दूने हैं।

विशेषार्थ- धातकीखण्ड में दो मेरु, चौदह क्षेत्र, बारह पर्वत, बारह तालाब और अट्ठाईस नदी इत्यादि हैं। इन सबके नाम भी वे ही है जो जम्बूद्वीप में बतलाये हैं। केवल मेरु पर्वतों के नाम भिन्न हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के बाद जितने भी द्वीप और समुद्र हैं उनमें जघन्य भोगभूमि, स्वयम्भूरमणद्वीप के स्वयंप्रभाचलपर्वत के पूर्व तक भोगभूमि तथा उसके बाद द्वीप तथा समुद्र कर्मभूमि हैं।

ातकीखण्ड द्वीप वलयाकृति है। इसके पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध-इस प्रकार दो विभाग हैं। यह विभाग इष्वाकार नामवाले दो पर्वत करते हैं जो उत्तर से दक्षिण तक द्वीप के विष्कम्भ प्रमाण, लम्बे हैं। इससे धातकीखण्ड द्वीप के दो भाग होकर प्रत्येक

भाग में एक मेरु, सात क्षेत्र, छह वर्षधर, चौदह नदियाँ और छह ह्रद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये सब जम्बूद्वीप से धातकीखण्ड द्वीप में दूने हो जाते हैं। इस द्वीप में पर्वत पहिये के आरे के समान हैं और क्षेत्र आरों के बीच में स्थित विवर के समान हैं।

पुष्कर द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

अर्थ- पुष्कर द्वीप के आधे भाग में भी क्षेत्र और पर्वत आदिक की सब रचना जम्बूद्वीप से दूनी दूनी है।

विशेष - धातकीखण्ड द्वीप के समान पुष्करार्ध में भी मेरु, वर्ष, वर्षधर, नदी और ह्रदों की संख्या है, क्योंकि इस द्वीप के भी इष्वाकार पर्वतों के निमित्त से पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध - ये दो भाग हो गये हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में पाँच मेरु, पैंतीस क्षेत्र, तीस वर्षधर, सत्तर महानदियाँ और तीस ह्रद प्राप्त होते हैं।

पुष्करवर द्वीप का विस्तार १६ लाख योजन है। उसके ठीक बीच में चूड़ी के आकार मानुषोत्तर पर्वत है। जिसमें इस द्वीप के दो हिस्से हो गये हैं। पूर्वार्ध में सब रचना धातकीखण्ड के समान है और जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है। इस द्वीप के उत्तरकुरु में एक पुष्कर (कमल) है। इसलिये इसे पुष्करवर कहते है। इस प्रकार जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि का विस्तार पैंतालीस लाख योजन होता है।

विदेहों का विशेष वर्णन : जम्बूद्वीप में विदेह क्षेत्र का विस्तार ३३६८४/१९ योजन है और मध्य में लम्बाई एक लाख योजन है। ठीक बीच में मेरु पर्वत है। इसके पास से दो गजदन्त पर्वत निकलकर निषध में जा मिले हैं। इसी प्रकार उत्तर में दो गजदन्त पर्वत नील में जा मिले हैं, इससे विदेह क्षेत्र चार भागों में बँट जाता है। दक्षिण दिशा में गजदन्तों के मध्य का क्षेत्र देवकुरु और उत्तर दिशा में यही क्षेत्र उत्तरकुरु कहलाता है। तथा पूर्व दिशा का सब क्षेत्र पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा का सब क्षेत्र पश्चिम विदेह कहलाता है। इनमें से देवकुरु और उत्तरकुरु में उत्तम भोगभूमि है तथा पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में कर्मभूमि है।

प्रश्न - पाँचों विदेह के उपविदेह कितने और किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर - पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में सीता और सीतोदा नदी के किनारों पर चार-चार विदेह होते हैं, एक-एक विदेह के आठ-आठ भाग होते हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप में सब मिलाकर बत्तीस विदेह होते हैं। धातकीखण्ड और पुष्कारार्ध द्वीप में चौसठ-चौसठ विदेह होते हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में कुल मिलाकर एक सौ साठ विदेह होते हैं।

पुष्करार्ध संज्ञा का कारण : पुष्करवर द्वीप के ठीक मध्य में वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत स्थित है, जिससे पुष्करवर द्वीप दो भागों में बँट गया है। इन दो भागों में से भीतर के भाग में इन क्षेत्रादिकों की रचना है बाह्य भाग में नहीं, इसलिये इस सूत्र द्वारा पुष्करार्ध में धातकीखण्ड के समान क्षेत्रादिक की रचना का निर्देश किया है।

मनुष्य क्षेत्र

प्राङ्‌ मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

अर्थ- (मानुषोत्तरात् प्राक्) मानुषोत्तर पर्वत के पहले अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही (मनुष्याः) मनुष्य (सन्ति) होते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के आगे ऋद्धिधारी मुनि तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते।

प्रश्न - मनुष्य लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर - मानुषोत्तर पर्वत के शिखर के ठीक बीच में मनुष्य लोक की सीमा निश्चित है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध इन ढाई द्वीपों को मनुष्य लोक कहते हैं। पैंतालिस लाख योजन का ढाई द्वीप अर्थात् मनुष्य लोक का विस्तार है।

शंका - क्या ढाई द्वीप के बाहर किसी भी प्रकार से मनुष्य नहीं पाये जा सकते हैं ?

समाधान - ढाई द्वीप के बाहर मनुष्यों के पाये जाने के निम्न प्रकार हैं :-

१. जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीप के बाहर उत्पन्न होने वाला है, वह यदि मरण के पहले मारणान्तिक समुद्‌घात करता है तो ढाई द्वीप के बाहर पाया जाता है।

२. ढाई द्वीप के बाहर निवास करने वाला अन्य गति का जो जीव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है, उसके पूर्व पर्याय के छोड़ने के अनन्तर समय में ही मनुष्यायु आदि कर्मों का उदय हो जाता है तब भी वह उपपाद क्षेत्र को प्राप्त होने के पूर्व तक मनुष्यलोक के बाहर पाया जाता है।

३. केवली जिनकी प्रदेश समुद्‌घात के समय क्रम से सर्वलोक में व्याप्त हो जाते हैं, इस प्रकार केवलिसमुद्‌घात के समय मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर पाया जाता है। ये तीन अवस्थाएँ हैं जब मनुष्य, मनुष्यलोक के बाहर पाये जाते हैं, इन अवस्थाओं को छोड़कर मनुष्यों का मनुष्यलोक से बाहर पाया जाना सम्भव नहीं है।

मनुष्य के भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

अर्थ - मनुष्य के दो भेद हैं - आर्य और म्लेच्छ।

आर्य- जो अनेक गुणों से सम्पन्न होता है तथा गुणी पुरुष जिसकी सेवा करते हैं उसे आर्य कहते हैं।

म्लेच्छ - जो आचार विचार से भ्रष्ट होता है तथा जिसे कर्म का कुछ विवेक नहीं होता उसे म्लेच्छ कहते हैं।

आर्यों के मुख्य दो भेद हैं - ऋद्धि प्राप्त आर्य और ऋद्धि रहित आर्य। जिनके तप आदि से बुद्धि आदिक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं वे ऋद्धि प्राप्त आर्य हैं। ऋद्धि रहित आर्य निमित्त भेद से पाँच प्रकार के बतलाये हैं - क्षेत्रार्य, जात्यार्य, चारित्रार्य, कर्मार्य और दर्शनार्य। म्लेच्छ मुख्यता धर्म-कर्म व्यवस्था से रहित होते हैं, इसी से ये म्लेच्छ कहलाते हैं। ये अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज-इस प्रकार दो तरह के होते हैं। लवणसमुद्र और कालोदसमुद्र के मध्य में स्थित अन्तर्द्वीपों में निवास करने वाले कुभोगभूमिज मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं तथा कर्मभूमि में पैदा हुए आर्यसंस्कृति से हीन मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

कर्म-भूमि के भेद

भरतैरावतविदेहाः कर्म-भूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अर्थ - पाँचों मेरुसम्बन्धी पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरु उत्तरकुरु को छोड़कर पांच विदेह। इस तरह अढ़ाई द्वीप में कुल पन्द्रह कर्म भूमियाँ हैं।

कर्मभूमि - जहाँ पर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, और शिल्प इन छह कर्मों द्वारा आजीविका की जाती है या जहाँ बड़े से बड़ा पापकर्म तथा बड़े से बड़ा पुण्यकर्म अर्जित किया जाता है उसे कर्मभूमि कहते हैं।

पहले ढाई द्वीप में पैंतीस क्षेत्र और छ्यानवे अन्तर्द्वीप बतला आये हैं, उनमें से पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह-ये पन्द्रह क्षेत्र ही कर्मभूमियाँ हैं। इनके सिवा सब क्षेत्र और अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि अर्थात् भोगभूमि हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु-ये विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इसीलिये विदेहों में कर्मभूमि की व्यवस्था बतलाने पर इनमें भी वह प्राप्त होती हैं, किन्तु पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु - इन दस क्षेत्रों में कर्मभूमि की व्यवस्था नहीं है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र में इन दस भूमियों को कर्मभूमियों से पृथक् बतलाया है।

प्रश्न - ढाई द्वीप में कितनी कर्मभूमियाँ होती हैं ?

उत्तर - ढाई द्वीप में पन्द्रह कर्मभूमियाँ होती हैं- पाँच भरतक्षेत्र में, पाँच ऐरावतक्षेत्र में और पाँच विदेहक्षेत्र में।

प्रश्न - ढाई द्वीप में भोग भूमियाँ कितनी होती हैं ?

उत्तर - ढाई द्वीप में तीस भोगभूमियाँ होती हैं- पाँच हेमवत क्षेत्र की, पाँच हरि क्षेत्र की, पाँच रम्यक क्षेत्र की, पाँच हैरण्यवत क्षेत्र की, पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु जो कि विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत हैं इस प्रकार कुल तीस भोगभूमियाँ होती हैं।

मनुष्य की उत्कृष्ट और जघन्य आयु

नृस्थिती परावरे त्रिपल्यो-पमान्तर्मुहूर्ते॥३८॥

अर्थ - (नृस्थिती) मनुष्यों की (पर) उत्कृष्ट आयु (त्रिपल्योपम) तीन पल्य और (अवरे) जघन्य आयु (अन्तर्मुहुर्ते) अन्तर्मुहूर्त की है।

विशेष - यहाँ उत्कृष्ट मनुष्यों की आयु उत्तम भोगभूमि की अपेक्षा तथा जघन्य आयु कर्मभूमि की अपेक्षा से है ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि भोगभूमि में एक करोड़ से कम की आयु नहीं है।

तिर्यञ्चों की आयु

तिर्यग्योनिजानां च॥३९॥

अर्थ- (तिर्यग्योनिजानां च) तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहुर्त की है।

विशेष - मनुष्यों की तरह ही तिर्यञ्चों की आयु समझना चाहिए।

स्थिति के भेद : स्थिति दो प्रकार की हैं - भवस्थिति और कायस्थिति। एक पर्याय में रहने में जितना काल लगे वह भवस्थिति है तथा पुन: पुन: उसी पर्याय में निरन्तर उत्पन्न होना, दूसरी जाति में नहीं जाना, इस प्रकार जितना काल प्राप्त हो वह कायस्थिति है। ऊपर मनुष्यों और तिर्यञ्चों की भवस्थिति बतलाई है।

तिर्यञ्चों की भवस्थिति : निर्यञ्चों में पृथिवीकायिकों की उत्कृष्ट भवस्थित बाईस हजार वर्ष, जलकायिकों की सात हजार वर्ष, अग्निकायिकों की तीन दिनरात, वायुकायिकों की तीन हजार वर्ष, वनस्पतिकायिकों की दस हजार वर्ष, द्वीन्द्रियों की बारह वर्ष, त्रीन्द्रियों की उनचास दिनरात, चतुरिन्द्रियों की छह महीना, पञ्चेन्द्रियों में मछली आदि जलचरों की पूर्वकोटि प्रमाण, गोह व नकुल आदि परिसर्पों की नौ पूर्वांङ्ग, सर्पों की ब्यालीस हजार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष और चतुष्पदों आदि की तीन पल्योपम उत्कृष्ट भवस्थिति है।

कायस्थिति - पृथिविकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्येय लोक प्रमाण है और वनस्पतिकायिक की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल प्रमाण है जो कि असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण

स्वरूप व आवलिका के असंख्यात भाग स्वरूप कही जाती है। विकलेन्द्रिय की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात हजार वर्ष की है। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्यों की उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्व कोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्य प्रमाण है। देव और नारकियों की भवस्थिति ही कायस्थिति है।

पल्य - व्यवहार, उद्धार और अद्धापल्य के भेद से पल्य के तीन भेद हैं।

व्यवहार पल्य - प्रमाण-अंगुल से परिमित एक भोजन लम्बे चौड़े गहरे, तीन गड्ढे करने चाहिये और गड्ढों को एक दिन से सात दिन रात्रि तक के भेड़ के बच्चे के रोमों के अतिसूक्ष्म जिनका दूसरा विभाग न हो ऐसे टुकड़ों से कूट-कूट कर भरना चाहिए। पुन: एक-एक सौ वर्ष बाद एक-एक रोम का टुकड़ा गड्ढे में से निकलना चाहिए। जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा उतना काल व्यवहार पल्य कहलाता है।

उद्धार पल्य - उन्हीं रोमच्छेदों में से यदि प्रत्येक रोम को असंख्यात करोड़ वर्ष के समयों से छिन्न कर दिया जाय और प्रत्येक समय में एक-एक रोमच्छेद को निकाला जाय तो जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा, वह समय उद्धार पल्य का कहलाता है।

अद्धा पल्य - पुन: उद्धार पल्यों के रोमच्छेदों को सौ वर्ष के समयों से छेद करके एक-एक समय में एक-एक रोमच्छेद के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा उतने समय का एक अद्धापल्य कहलाता है।

प्रश्न - मध्यलोक किसके समान है ?

उत्तर - मध्यलोक झालर के समान है।

प्रश्न - मध्यलोक कहाँ तक कहलाता है ?

उत्तर - मध्यलोक चित्रा पृथिवी के ऊपर के भाग से लेकर सुदर्शनमेरु की चोटी तक कहलाता है।

प्रश्न - मध्यलोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर - एक राजू लम्बा चौड़ा तथा एक लाख ४० योजन ऊँचाई प्रमाण मध्यलोक का विस्तार होता है।

प्रश्न - मध्यलोक में क्या है ?

उत्तर - इस मध्यलोक की चित्रा पृथिवी के ऊपर असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं।

प्रश्न - द्वीप और समुद्रों के मध्य में कौन सा द्वीप है ?

उत्तर - द्वीप और समुद्रों के मध्य एक लाख योजन अर्थात् चालीस करोड़ मील के विस्तार का गोल जम्बूद्वीप है।

प्रश्न - इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप क्यों रखा गया है ?

उत्तर - जम्बूवृक्ष के कारण इस द्वीप का नाभ जम्बूद्वीप रखा गया है। इसी जम्बूद्वीप के ठीक बीच में सुदर्शन नामक मेरुपर्वत है।

प्रश्न - पूर्व किसे कहते हैं ?

उत्तर - चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांगों का एक पूर्व होता है।

प्रश्न - सुमेरु पर्वत कहाँ पर है ?

उत्तर - विदेह क्षेत्र के ठीक बीच में सुदर्शन नाम का सुमेरु पर्वत है, यह पर्वत सब पर्वतों से बड़ा है, एक हजार योजन पृथ्वी के नीचे इसकी नींव और निन्यानवें हजार योजन पृथ्वी से ऊपर ऊँचा है और चालीस योजन की इसकी चोटी (चूलिका) है, यह चूलिका सौधर्म स्वर्ग के ऋतु विमान से एक बाल के अंतराल में है।

प्रश्न - पाण्डुक शिलाएँ कितनी होती है ?

उत्तर - चार दिशाओं में चार पाण्डुक शिलाएँ होती हैं - (१) पाण्डुक (२) पाण्डुकम्बला (३) रक्ता (४) रक्तकम्बला।

प्रश्न - इन पाण्डुक शिलाओं पर किन तीर्थंकरों का अभिषेक होता है ?

उत्तर - पहली पाण्डुक नाम की शिला पर भरत क्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है, दूसरी पाण्डुकम्बला नाम की शिला पर पश्चिम विदेह में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। तीसरी रक्ता नाम की शिला पर ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों का अभिषेक होता है और चौथी रक्तकम्बला नाम की शिला पर पूर्व विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।

प्रश्न - जिन कलशों से तीर्थंकरों का अभिषेक होता है उन कलशों का प्रमाण कितना होता है ?

उत्तर - पाण्डुक शिला पर जो कलश ढुरते हैं। उन कलशों का मुख एक योजन, उदर चार योजन और अवगाहना आठ योजन प्रमाण होती है।

प्रश्न - चारों पाण्डुक शिलाओं पर कितने-कितने सिंहासन होते हैं और उन पर कौन बैठते हैं ?

उत्तर - चारों पाण्डुक शिलाओं पर चारों दिशाओं में तीन-तीन सिंहासन होते हैं। उनमें बीच के सिंहासन पर जिनेन्द्र भगवान् विराजमान होते हैं और उनके दायें अर्थात् दक्षिण की तरफ सौधर्म इन्द्र विराजमान होता है और उत्तर की तरफ ईशान इन्द्र विराजमान होता है।

प्रश्न - ढाई द्वीप में कितने मेरुपर्वत होते हैं ?

उत्तर - ढाई द्वीप में पाँच मेरुपर्वत होते हैं - (१) सुदर्शन मेरु सबसे ऊँचा व बड़ा है, तथा (२) विजयमेरु, (३) अचलमेरु, (४) मन्दिरमेरु, (५) विद्युन्माली। ये चारों मेरु समान हैं

प्रश्न - पंचमेरु कहाँ-कहाँ है और इनकी ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - प्रथम सुदर्शनमेरु जो कि एक लाख योजन ऊँचा है, वह जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र के बीच में है। धातकीखण्ड द्वीप के बीच में विजयमेरु और अचलमेरु है उसी प्रकार पुष्करार्ध द्वीप में भी मन्दिरमेरु और विद्युन्मालीमेरु है। ये चारों मेरु चौरासी-चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं और सब चारों एक समान होते हैं।

प्रश्न - पंचमेरु में अस्सी अकृत्रिम चैत्यालय किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर - ढाई द्वीप में पाँच मेरु पर्वत हैं, एक-एक मेरु पर चार-चार वन हैं, एक-एक वन में चार-चार चैत्यालय हैं, इस तरह एक मेरु पर सोलह चैत्यालय हैं, पाँचों मेरुओं को मिलाकर अस्सी अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं।

प्रश्न - असंख्यात द्वीप होते हैं, उनमें प्रचलित द्वीप कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - असंख्यात द्वीपों में सोलह नाम निम्न प्रकार बताये गये हैं - (१) जम्बूद्वीप, (२) धातकीखण्ड, (३) पुष्करवर, (४) वारुणीवर, (५) क्षीरवर, (६) घृतवर, (७) क्षौद्रवर, (८) नन्दीश्वर, (९) अरुणवर, (१०) अरुणाभास, (११) कुण्डलवर, (१२) शंखवर, (१३) रुचकवर, (१४) भुजंगवर, (१५) कुशवर, (१६) क्रौंचवर। इस प्रकार ये प्रारम्भ के सोलह द्वीपों के नाम हैं।

प्रश्न - समुद्रों के जल का स्वाद किस के समान होता है ?

उत्तर - लवणसमुद्र के जल का स्वाद नमक के समान खारा होता है, क्षीर समुद्र के जल का स्वाद दूध के समान होता है, घृतवरसमुद्र के जल का स्वाद घृत के समान होता है, कालोदधि तथा पुष्करवरसमुद्र एवं स्वयम्भूरमणसमुद्र के जल का स्वाद सामान्य जल के समान होता है, और बाकी के बचे समस्त समुद्रों के जल का स्वाद इक्षुरस अर्थात् गन्ने के रस के समान होता है।

प्रश्न - किन समुद्रों में जलचर जीव होते हैं ?

उत्तर - लवणसमुद्र, कालोदधिसमुद्र, और अन्तिम स्वयम्भूरमणसमुद्र इनमें जलचर जीव होते हैं शेष समस्त समुद्रों में जलचर जीव नहीं होते हैं।

प्रश्न - महामत्स्य की अवगाहना आदि कितनी होती है ?

उत्तर - स्वयंभूरमणसमुद्र में जो महामत्स्य होता है उसके शरीर की लम्बाई एक हजार योजन की एवं ऊँचाई पाँच सौ योजन की तथा चौड़ाई ढाई सौ योजन की होती है। यह महामत्स्य मरकर सातवें नरक में जाता है।

प्रश्न - मध्यलोक के चार सौ अट्ठावन अकृत्रिम चैत्यालय कौन से हैं ?

उत्तर - मध्यलोक के प्रथम जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें रुचकगिरिद्वीप तक चार सौ अट्ठावन अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं। यथा-पाँचों मेरु पर्वतों पर अस्सी, तीस कुलाचलों पर तीस, बीस गजदन्त पर बीस, वक्षारगिरि पर अस्सी, इष्वाकारपर्वत पर चार, मानुषोत्तर पर्वत पर चार, विजयार्धपर्वत पर एक सौ सत्तर, जम्बूवृक्ष पर पाँच शाल्मलीवृक्ष पर पाँच, नन्दीश्वरद्वीप में बावन, कुण्डलगिरि पर्वत पर चार रुचकद्वीप के रुचक पर्वत पर चार। इस प्रकार कुल चार सौ अट्ठावन (४५८) अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं। प्रत्येक चैत्यालय में एक सौ आठ-एक सौ आठ भव्य जिन प्रतिमायें हैं।

प्रश्न - ढाईद्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय कितने होते हैं ?

उत्तर - ढाईद्वीप में तीन सौ अनठानवें (३९८) अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं - यथा- नन्दीश्वरद्वीप के बावन, कुण्डलगिरिपर्वत के चार तथा रुचकपर्वत के चार इन साठ अकृत्रिम चैत्यालयों को छोड़कर शेष तीन सौ अनठानवें (३९८) अकृत्रिम चैत्यालय ढाई द्वीप में होते हैं।

प्रश्न - जम्बूद्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय कितने होते हैं ?

उत्तर - जम्बूद्वीप में अठत्तर अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं - सुदर्शनमेरु सम्बन्धि सोलह, जम्बूवृक्ष और शाल्मलिवृक्ष सम्बन्धि दो, षट्कुलाचल सम्बन्धि छः, गजदन्त सम्बन्धि चार, वक्षारगिरि सम्बन्धि सोलह, और विजयार्धपर्वत सम्बन्धि चौतीस इस प्रकार अठत्तर अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं।

प्रश्न - धातकीखण्डद्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय कितने होते हैं ?

उत्तर - धातकीखण्डद्वीप में एक सौ अट्ठावन (१५८) अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं- पूर्व धातकीखण्डद्वीप में विजयमेरु सम्बन्धि सोलह, धातकीवृक्ष और शाल्मलिवृक्ष सम्बन्धि दो, षट् कुलाचल सम्बन्धि छः, गजदन्त सम्बन्धि चार,वक्षारगिरि सम्बन्धि सोलह और विजयार्ध पर्वत सम्बन्धि चौतीस इस प्रकार अठत्तर अकृत्रिम चैत्यालय हुये, पश्चिम धातकीखण्डद्वीप में ये अठत्तरों के साथ इष्वाकार पर्वत के दो मिलाने पर

अस्सी अकृत्रिम चैत्यालय हुये, पश्चिम धातकीखण्डद्वीप में ७८+८०=१५८ अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं।

प्रश्न - पुष्करार्धद्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय कितने होते हैं ?

उत्तर - पुष्करार्धद्वीप में एक सौ अट्ठावन (१५८) अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं- धातकीखण्डद्वीप के समान पूर्व पुष्करार्ध सम्बन्धि अठत्तर तथा पश्चिम पुष्करार्ध सम्बन्धि अस्सी इस प्रकार पुष्करार्ध द्वीप में भी एक सौ अट्ठावन अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं।

प्रश्न - नन्दीश्वरद्वीप का विस्तार कितना है ?

उत्तर - नन्दीश्वरद्वीप का विस्तार एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है।

प्रश्न - नन्दीश्वरद्वीप का बाह्य विस्तार कितना है ?

उत्तर - नन्दीश्वरद्वीप का बाह्य विस्तार छः सौ पचपन करोड़ तैंतीस लाख योजन है।

प्रश्न - नन्दीश्वरद्वीप की बाह्यपरिधि कितनी होती है ?

उत्तर - नन्दीश्वरद्वीप की बाह्यपरिधि दो हजार बहत्तर करोड़, तैंतीस लाख, चौवन हजार, एक सौ नब्बे योजन की होती है।

प्रश्न - नन्दीश्वरद्वीप के चारों दिशाओं में कौन सा पर्वत है ?

उत्तर - नन्दीश्वरद्वीप के चारों दिशाओं में एक-एक अंजनगिरि नाम का पर्वत है, वह अंजनगिरि पर्वत इन्द्रनीलमणि या अंजन के समान काला है।

प्रश्न - अंजनगिरि पर्वत की चारों दिशाओं में कितनी वापिकायें होती हैं ?

उत्तर - अंजनगिरि पर्वत की चारों दिशाओं में चार वापिकायें अर्थात् बावडियाँ होती हैं, एक-एक वापीका के बीच में बहुत सुन्दर एक-एक दधिमुख नाम का पर्वत है।

प्रश्न - वापीका के आगे दोनों कोनों पर कौन-कौन से पर्वत हैं ?

उत्तर - प्रत्येक वापीका के आगे के दोनों कोनों पर दो-दो रतिकर नाम के पर्वत हैं।

प्रश्न - नन्दीश्वरद्वीप की एक दिशा में कितने अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं ?

उत्तर - नन्दीश्वरद्वीप की एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर इस प्रकार एक दिशा में तेरह अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं। इस प्रकार चारों दिशाओं में सब बावन अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं।

प्रश्न - अंजनगिरि आदि पर्वतों के रंग किसके समान हैं ?

उत्तर - अंजनगिरि सब काले रंग के हैं, दधिमुख सफेद रंग के हैं, रतिकर लाल वर्ण के हैं।

प्रश्न - अंजनगिरि आदि पर्वतों की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - अंजनगिरि पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं और एक हजार योजन गहरे मूल में हैं तथा दधिमुख पर्वत दस हजार योजन ऊँचे हैं रतिकर पर्वत एक-एक हजार योजन ऊँचे हें। ये सब पर्वत खड़े ढोल के समान आकार वाले हैं।

प्रश्न - वापिकाओं का विस्तार कितना होता है ?

उत्तर - वापिकाओं का विस्तार चारों कोनों पर बराबर एक-एक लाख योजन का होता है। अर्थात् इनकी लम्बाई चौड़ाई बराबर होती है। गहरी एक हजार योजन होती है।

प्रश्न - नन्दीश्वरद्वीप के प्रत्येक जिनमन्दिर में कितने गर्भ गृह होते हैं ?

उत्तर - नन्दीश्वरद्वीप के प्रत्येक जिनमन्दिर में एक सौ आठ गर्भ गृह होते हैं। उनमें एक सौ आठ भव्य रत्नमयी जिन प्रतिमाएँ होती हैं।

प्रश्न - भव्य रत्नमयी प्रतिमायें किस प्रकार की होती हैं ?

उत्तर - प्रत्येक प्रतिमा पाँच सौ धनुष ऊँची पद्मासन युक्त होती हैं वे प्रतिमायें अत्यन्त सुन्दर व दिव्य होती हैं, उनके नख और मुख लाल मणि के हैं और भौंहें तथा आँखें सफेद और काली मणियों की हैं। प्रतिमाओं के सिर के बाल काले हैं, मुख की आकृति हँसती हुई अद्भुत है। करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति को दबा देने वाली कांति युक्त प्रतिमायें अवर्णनीय महिमा वाली होती हैं।

प्रश्न - नन्दीश्वरद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालय में देवगण पूजा कब करते हैं ?

उत्तर - नन्दीश्वरद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयों में देवगण कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ माह के अन्तिम आठ दिनों में आकर इन अद्भुत जिन प्रतिमाओं की अष्ट द्रव्य आदि विविध द्रव्यों से पूजा, अर्चा व वंदना करते हैं।

प्रश्न - देवगण एक दिन में कितनी बार पूजन करते हैं ?

उत्तर - देवगण प्रत्येक आष्टाह्निक पर्व में आते हैं और अष्टमी से पूर्णमासी तक (१) पूर्वाह्न, (२) अपराह्न,(३) पूर्वरात्रि और (४) पश्चिमरात्रि इस प्रकार चार समय बड़ी भक्ति भाव भजन, साज व नृत्य के साथ पूजन करते हैं, पश्चात् सब प्रदक्षिणा देते हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) तृतीयोऽध्याय: ॥३॥

❁❁❁

तन पाया तो तप करो, करो कर्म का नाश।
रवि शशि से अधिक है, तुममें दिव्य प्रकाश ॥

चतुर्थ अध्याय

देवों के भेद

देवाश्चतुर्णिकाया: ॥१॥

अर्थ - (देवा:) देव (चतुर्णिकाया:) चार जाति वाले (सन्ति) हैं। अर्थात् देवों के चार भेद हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

देव - देवगति नामकर्म के उदय से जो नानाद्वीप, समुद्र तथा पर्वत आदि रमणीय स्थानों में क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं।

प्रश्न - ऊर्ध्वलोक किसके समान होता है ?

उत्तर - ऊर्ध्वलोक मृदंग अर्थात् तबलों के आकार का होता है।

प्रश्न - ऊर्ध्वलोक किसे कहते हैं ?

उत्तर - जहाँ पर इन्द्र और अहमिन्द्र रहते हैं और जो निरंतर सांसारिक सुख भोगते हैं उसे ऊर्ध्वलोक कहते हैं।

भवनत्रिक देवों के लेश्या का विभाग

आदितस्-त्रिषु पीतान्त-लेश्या: ॥२॥

अर्थ- (आदितस्त्रिषु) पहले के तीन निकायों में (पीतान्तलेश्या:) पीतान्त अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ (सन्ति) होती हैं।

विशेषार्थ - यों तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के सदा एक पीत लेश्या ही पाई जाती है, किन्तु ऐसा नियम है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के मध्यम अंश के साथ मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च और पीत लेश्या के मध्यम अंश के साथ मरे हुए भोगभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं, इसलिये इनके अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण, नील और कापोत-ये तीन अशुभ लेश्याएँ भी पाई जाती हैं। इसी से इनके पीत तक चार लेश्याएँ जतलाई हैं। अभिप्राय यह है कि भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण आदि चार लेश्याएँ और पर्याप्त अवस्था में एक पीत लेश्या पाई जाती हैं।

यह वर्णन भावलेश्या का है। द्रव्य लेश्या तो पीत ही होती है। यथा कोई जीव अशुभ लेश्या से मरण करके देवगति में गमन करता है, तो अपर्याप्त दशा में देवों के वही लेश्या होती है जिस लेश्या से उसका मरण हुआ है। अत: आदि की तीन लेश्याएं कही गई हैं। परन्तु पर्याप्त दशा में तो मात्र पीत लेश्या ही होती है।

चार निकायों के देवों के प्रभेद

दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पा: कल्पोपपन्न-पर्यन्ता: ॥३॥

अर्थ- (कल्पोपपन्नपर्यन्ता) सोलहवें स्वर्ग तक के उक्त चार प्रकार के देवों के क्रम से दश, आठ, पांच और बारह भेद हैं।

भावार्थ - भवनवासी देवों के दस, व्यंतर देवों के आठ, ज्योतिषियों के पाँच तथा वैमानिक देवों के इन्द्रों की अपेक्षा बारह भेद होते हैं।

शंका- वैमानिक देवों के इन्द्रों की अपेक्षा बारह भेद किस प्रकार होते हैं।

समाधान- वैमानिक देवों के मूल भेद दो हैं- कल्पोपन्न तथा कल्पातीत। सोलह स्वर्ग में उत्पन्न होने वाले देवों को कल्पोपपन्न तथा सोलह स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न होने वाले देवों को कल्पातीत कहते हैं। प्रारम्भ के चार स्वर्गों में एक-एक इन्द्र होता है तथा अन्तिम चार स्वर्गों में एक-एक इन्द्र होता है। मध्य के आठ स्वर्गों में दो-दो स्वर्गों में एक-एक इन्द्र होता है। अर्थात् पांचवें-छठे स्वर्ग में एक इन्द्र सातवें-आठवें स्वर्ग में एक इन्द्र, नौवें-दशवें स्वर्ग में एक इन्द्र तथा ग्यारहवें-बारहवें स्वर्ग में एक इन्द्र होता है। इस प्रकार सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र होते हैं।

प्रश्न - स्वर्गों में कितने उपेन्द्र (प्रतीन्द्र) होते हैं ?

उत्तर - स्वर्गों में बारह इन्द्र की तरह बारह ही उपेन्द्र होते हैं। इस प्रकार स्वर्गों में कुल चौबीस इन्द्र होते हैं।

चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्मरक्ष-लोक-पालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकश: ॥४॥

अर्थ- उक्त चार प्रकार के देवों में (एकशः) प्रत्येक के (इन्द्र) इन्द्र, (सामानिक) सामानिक, (त्रायस्त्रिंश) त्रायस्त्रिंश, (पारिषत्) पारिषद्, (आत्मरक्ष) आत्मरक्ष, (लोकपाल) लोकपाल, (अनीक) अनीक, (प्रकीर्णक) प्रकीर्णक, (आभियोग्य) आभियोग्य और (किल्विषिकाः) किल्विषिक ये दश-दश भेद होते हैं।

इन्द्र - दूसरें देवों में नहीं रहने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों से परमैश्वर्य को प्राप्त देवों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं।

सामानिक - आयु, शक्ति, परिवार, भोग, उपभोग आदि में इन्द्र के समान किन्तु आज्ञा रूप ऐश्वर्य से रहित देवों को सामानिक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंश - जो देव, पिता, मंत्री, पुरोहित या गुरु के समान होते हैं उन देवों को

त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्र की सभा में ये देव तैंतीस ही होते हैं।

परिषद्- इन्द्र की सभा के सदस्य देवों को परिषद् कहते हैं।

आत्मरक्ष - अङ्गरक्षक के समान देवों को आत्मरक्ष कहते हैं।

लोकपाल - कोतवाल के समान देवों को लोकपाल कहते हैं।

अनीक - पैदल आदि सात प्रकार की सेना में विभक्त देवों को अनीक कहते हैं।

प्रकीर्णक- नगर निवासी जनता के समान देवों को प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग्य - हाथी घोड़ा आदि बनकर दासों के समान संवारी आदि के काम आने वाले देवों को अभियोग्य कहते हैं।

किल्विषिक - चाण्डालादि की भांति दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं। ये भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं और इन्द्र के ऐश्वर्य के द्योतक हैं।

व्यन्तरों और ज्योतिषियों में दश भेदों में कमी

त्रायस्त्रिंशलोकपाल-वर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्का: ॥५॥

अर्थ- (व्यन्तरज्योतिष्का:) व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में (त्रायस्त्रिंशलोक पाल) त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये भेद (वर्ज्या) नहीं होते। अर्थात् शेष आठ भेद ही होते हैं।

देवों में इन्द्रों की व्यवस्था

पूर्वयो द्वीन्द्रा: ॥६॥

अर्थ- (पूर्वयो:) भवनवासी और व्यन्तरों के प्रत्येक भेद में (द्वीन्द्रा:) दो इन्द्र (सन्ति) होते हैं।

विशेषार्थ - भवनवासियों के दश भेदों में बीस इन्द्र और व्यन्तरों के आठ भेदों में सोलह इन्द्र होते हैं। तथा दोनों में इतने ही प्रतीन्द्र होते हैं।

देवों के कामसेवन की विधि

काय-प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

अर्थ - (आ ऐशानात्) ऐशान स्वर्ग पर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले तथा दूसरे स्वर्ग के देव (कायप्रवीचारा:) अपनी-अपनी देवियों के साथ मनुष्यों के समान शरीर से कामसेवन (मैथुन) करते हैं।

शेष स्वर्गों के देवों में कामसेवन की रीति

शेषा: स्पर्श-रूप-शब्द-मन: प्रवीचारा: ॥८॥

अर्थ - (शेषाः) पहिले और दूसरे स्वर्ग से ऊपर के स्वर्गों में क्रमशः देव,देवियों के (स्पर्श) स्पर्श से, (रूप) रूप देखने से, (शब्द) शब्द सुनने से और (मनः) मन में विचारने से (प्रवीचाराः) कामसेवन (कुर्वन्ते) करते हैं।

विशेषार्थ- तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव, देवियों के आलिंगनमात्र से, पांचवें, छठें, सातवें, और आठवें स्वर्ग के देव, देवियों का रूप देखने से, नौवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग के देव, देवियों के गीत वगैरह के शब्द सुनने से तथा तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्ग के देव, देवियों का मन में विचार करने मात्र से तृप्त हो जाते हैं, उनकी कामेच्छा शान्त हो जाती है।

प्रश्न - देवों के द्वारा प्रवीचार किस प्रकार होता है ?

उत्तर - भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क, देवों में तथा पहले व दूसरे स्वर्ग में मनुष्यों की तरह प्रवीचार होता है। तीसरे तथा चतुर्थ स्वर्ग में स्पर्श मात्र से प्रवीचार होता है। पाँचवें, छठें, सातवें तथा आठवें स्वर्गों में परस्पर रूप अवलोकन से प्रवीचार होता है। नवमें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्गों में शब्द सुनने मात्र से प्रवीचार होता है। तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्गों में मन में चिन्तवन मात्र से प्रवीचार होता है।

यद्यपि देवियाँ दूसरे कल्प तक ही उत्पन्न होती हैं परन्तु नियोगवश वे ऊपर के कल्पों में पहुँच जाती है।

कल्पातीतों में मैथुन का निषेध

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

अर्थ- (परे) सोलहवें स्वर्ग से ऊपर ग्रैवेयिक, अनुदिश और अनुत्तरों के देवों में (अप्रवीचाराः) कामसेवन नहीं होता। कल्पातीत देवों के कामेच्छा ही उत्पन्न नहीं होती और वहाँ देवियाँ भी नहीं होती।

भवनवासियों के दश भेद

भवन-वासिनोऽसुरनाग-विद्युत्सुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ॥१०॥

अर्थ - (भवनवासिनः) भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत् कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये दश भेद हैं।

इनके वेशभूषा और वार्तालाप वगैरह कुमार की तरह होते हैं इससे इन्हें कुमार कहते हैं। ये देव भवनों में निवास करते हैं इसलिये इन्हें भवनवासी कहते हैं।

असुरकुमार को छोड़कर नौ प्रकार के भवनवासी देव और राक्षस को छोड़कर सात प्रकार के व्यन्तर देव रत्नप्रभा पृथिवी के पहले खरभाग में रहते हैं तथा असुरकुमार और राक्षस, इसी पृथिवी के पंकभाग में रहते हैं। इसके सिवाय व्यन्तर देवों का मध्यलोक में भी कई जगह निवास है।

व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥११॥

अर्थ- (व्यन्तराः) व्यन्तर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं।

विविध स्थानों के निवासी होने के कारण इन्हें व्यन्तर कहते हैं।

ज्योतिषी देवों के पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्या-चन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२॥

अर्थ - (ज्योतिष्काः) ज्योतिषी देव सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये पाँच भेद हैं।

ये सब चमकीले होते हैं, इसीलिये इन्हें ज्योतिष्क कहते हैं।

पाँच प्रकार के ज्योतिष्क और उनका निवास स्थान : सूर्य आदि पाँचों प्रकार के ज्योतिष्क ज्योति स्वभाव अर्थात् प्रकाशमान होते हैं, इसलिये ये ज्योतिष्क कहे गये हैं। इस समान भूभाग से सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई से लेकर नौ सौ योजन तक अर्थात् एक सौ दस योजन के भीतर यह ज्योतिष्क समुदाय पाया जाता है।

१. जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, छप्पन नक्षत्र हैं, एक सौ छिहत्तर ग्रह और एक कोड़ाकोड़ी लाख, तैंतीस कोड़ाकोड़ी हजार, नौ कोड़ाकोड़ी सैकड़ा, पचास कोड़ाकोड़ी प्रमाण तारा गण हैं।

२. लवण समुद्र में चार सूर्य, चार चन्द्रमा, एक सौ बारह नक्षत्र, तीन सौ बावन ग्रह, दो कोड़ाकोड़ी लाख सड़सठ कोड़ाकोड़ी हजार नौ सौ कोड़ाकोड़ी तारागण हैं।

३. धातकीखण्ड में बारह सूर्य, बारह चन्द्रमा, तीन सौ छत्तीस नक्षत्र, एक हजार छप्पन ग्रह और आठ लाख कोड़ाकोडी सैंतीस सौ कोड़ाकोड़ी तारा हैं।

४. कालोदधि समुद्र में ब्यालीस सूर्य, ब्यालीस चन्द्रमा, एक हजार एक सौ

सड़सठ नक्षत्र, तीन हजार छह सौ छ्यानवे ग्रह, अट्ठाईस कोड़ाकोड़ी लाख, बारह कोड़ाकोड़ी हजार नौ कोड़ाकोड़ी सैकड़ा पचास कोड़ाकोड़ी तारागण हैं।

५. पुष्करार्ध में बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्रमा, दो हजार सोलह नक्षत्र, छह हजार तीन सौ छत्तीस ग्रह और अड़तालीस कोड़ाकोड़ी लाख, बावीस कोड़ाकोड़ी हजार, दो कोड़ाकोड़ी सैकड़ा तारा हैं। बाह्य पुष्करार्ध में भी इतने ही ज्योतिषी देव हैं। पुष्करवर समुद्र में इससे चौगुनी संख्या है। उससे आगे प्रत्येक द्वीप समुद्र में दूनी-दूनी है।

नोट - ज्योतिषी देवों का निवास मध्यलोक के सम धरातल से ७९० महायोजन की ऊंचाई से लेकर ९०० महायोजन की ऊंचाई तक ११० महायोजन आकाश में है।

ज्योतिषी देवों का गमन

मेरु-प्रदक्षिणा नित्य-गतयो नृ-लोके।।१३।।

अर्थ - ज्योतिषी देव (नृलोके) मनुष्य लोक में (मेरु-प्रदक्षिणा:) मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए (नित्यगतय:) हमेशा घूमते रहते हैं।

ये ज्योतिषि देव एक हजार एक सौ इक्कीस योजन दूर से मेरु की प्रदक्षिणा देते हैं।

चर ज्योतिष्क : मनुष्य, मानुषोत्तर पर्वत के भीतर पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के एक ओर से लेकर दूसरी ओर तक कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन हैं। मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं, इसलिये यह मनुष्यलोक कहलाता है। इस लोक में ज्योतिष्क सदा भ्रमण किया करते हैं। इनका भ्रमण मेरु के चारों ओर होता है।

ज्योतिषी देवों से लाभ

तत्कृत: कालविभाग: ।।१४।।

अर्थ - (कालविभाग:) घड़ी घण्टा दिन रात आदि व्यवहारकाल का विभाग (तत्कृत:) उन्हीं गतिशील ज्योतिषी देवों के द्वारा किया जाता है। अर्थात् व्यवहारकाल सूर्य, चन्द्रमा, आदि की गति से जाना जाता है।

विशेषार्थ - यह काल मुहूर्त, दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग आदि अनेक प्रकार का है। तीस मुहूर्त का एक दिन रात है। पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष है। दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष और पाँच वर्ष का एक युग होता है।

मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति

बहिरवस्थिता: ।।१५।।

अर्थ - (बहिः) मनुष्यलोक (अढ़ाईद्वीप) के बाहर के ज्योतिषी देव (अवस्थिताः) स्थिर हैं। अर्थात् वे गमन नहीं करते।

प्रश्न - पृथ्वी से ज्योतिषी देवों के विमान कितने ऊपर होते हैं ?

उत्तर - चित्रा पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारों के विमान, आठ सौ योजन ऊपर सूर्य के विमान, आठ सौ अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा के विमान, आठ सौ चौरासी योजन ऊपर नक्षत्रों के विमान, आठ सौ अट्ठासी योजन ऊपर बुध के विमान, आठ सौ इक्यानवें योजन ऊपर शुक्र के विमान, आठ सौ चौरानवें योजन ऊपर बृहस्पति के विमान, आठ सौ सत्तानवें योजन ऊपर मंगल के विमान, नौ सौ योजन ऊपर शनि के विमान हैं। इस प्रकार ज्योतिषी देवों के विमान एक सौ दस योजन में हैं।

प्रश्न - चन्द्रमा का परिवार कितना बड़ा है ?

उत्तर - एक चन्द्रमा के परिवार में अठासी ग्रह, अट्ठाईस नक्षत्र, छ्यासठ हजार नौ सौ पिचत्तर कोड़ाकोड़ी तारे हैं।

प्रश्न - जम्बूद्वीप में कितने चन्द्रमा, सूर्य व तारे होते हैं ?

उत्तर - जम्बूद्वीप में दो चन्द्रमा और दो सूर्य तथा एक लाख तैंतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।

प्रश्न - ढाई द्वीप में कितने सूर्य और चन्द्रमा हैं ?

उत्तर - ढाई द्वीप में एक सौ बत्तीस सूर्य और एक सौ बत्तीस चन्द्रमा होते हैं- जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, लवण समुद्र में चार सूर्य और चार चन्द्रमा हैं, धातकीखण्डद्वीप में बारह सूर्य और बारह चन्द्रमा हैं, कालोदधि समुद्र में ब्यालीस सूर्य और ब्यालीस चन्द्रमा हैं, तथा पुष्करार्धद्वीप में बहत्तर सूर्य और बहत्तर चन्द्रमा हैं।

वैमानिक देवों का वर्णन

वैमानिकाः ।।१६।।

अर्थ - अब यहाँ वैमानिक देवों का वर्णन शुरु होता है।

विमान - जिसमें रहने वाले जीव विशेष पुण्यशाली माने जाते हैं उसे विमान कहते हैं। विमान में पैदा होने वाले देवों को वैमानिक कहते हैं।

वैमानिक देवों के भेद

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।।१७।।

अर्थ - वैमानिक देवों के दो भेद हैं - (कल्पोपपन्नाः) कल्पोपपन्न (च) और (कल्पातीताः) कल्पातीत।

७. **अवधिविषय** : ऊपर ऊपर के देवों कें अवधिज्ञान की सामर्थ्य भी बढ़ती गई है। प्रथम और दूसरे कल्प के देव अवधिज्ञान से पहली नरकभूमि तक जानते हैं। तीसरे और चौथे कल्प के देव दूसरी नरकभूमि तक जानते हैं। पाँचवें से आठवें कल्प तक के देव तीसरी नरकभूमि तक जानते हैं। नौवे से लेकर बारहवें कल्प तक के देव चौथी भूमि तक जानते हैं। तेरहवें से लेकर सोलहवें कल्प तक के देव पाँचवीं नरकभूमि तक जानते हैं। नौ ग्रैवेयक के देव छठी नरकभूमि तक जानते हैं। तथा नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तरवासी देव पूरी लोकनाड़ी को जानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ऊपर-ऊपर के देवों के अवधिज्ञान की सामर्थ्य अधिक-अधिक है।

प्रश्न - पहले और दूसरे आदि स्वर्गों के देव अवधिज्ञान के माध्यम से कहाँ तक की बात जान सकते हैं ?

उत्तर - पहले और दूसरे स्वर्गों के देव अवधिज्ञान के माध्यम से पहले नरक तक की, तीसरे और चौथे स्वर्गों के देव दूसरे नरक तक की, पाँचवें से आठवें स्वर्ग तक के देव तीसरे नरक तक की, तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक के देव, पाँचवें नरक तक की, नौ ग्रैवेयिक विमानों के देव छठें नरक तक की, नौ अनुदिश विमानों के देव, सातवें नरक तक की पाँच अनुत्तर विमानों के देव १४ राजू प्रमाण सर्वलोक, की बात जान सकते हैं।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अर्थ - गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा ऊपर ऊपर के वैमानिक देव हीन हीन हैं।

१. **गति** : जिससे प्राणी एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त होता है वह गति है। यह गति ऊपर-ऊपर के देवों में कमती-कमती पाई जाती है।

२. **शरीर** : देवों का शरीर वैक्रियिक होता है इसलिये वे अपनी इच्छानुसार उसे छोटा-बड़ा जैसा चाहे कर सकते हैं। तीर्थंकर के जन्मोत्सव के समय जो एक लाख योजन के हाथी का कथन आता है सो वह वैक्रियिक ही रहता है।

४. **अभिमान** : मान कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ अहंकार अभिमान कहलाता है। स्थिति, प्रभाव, शक्ति आदि के निमित्त से अभिमान पैदा होता है। परन्तु ऊपर-ऊपर के देवों में कषाय घटती हुई होने के कारण अभिमान भी घटता हुआ ही है।

मन्दकषाय, अल्पसंक्लेश परिणाम, अवधिज्ञान की विशुद्धि, तत्त्वावलोकन

और संवेग परिणामों की उत्तरोत्तर अधिकता होने से अभिमान की हानि होती है।

१. **उच्छ्वास** : उनके श्वासोच्छ्वास का साधारणत: यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की होती है वे उतने पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

२. **आहार** : आहार तो देव भी करते हैं। परन्तु उनका आहार मनुष्य और तिर्यञ्चों सरीखा न होकर मानसिक माना गया है। आहार विषयक विकल्प के होते ही उनके कण्ठ से अमृत झरता है जिससे उनकी तृप्ति हो जाती है।

नोट - सोलहवें स्वर्ग के आगे के देव अपने विमान को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते हैं।

प्रश्न - स्वर्गादि देवों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - पहले और दूसरे स्वर्गों में देवों के शरीर की ऊँचाई सात अरत्नि (एक इंच कम एक हाथ को अरत्नि कहते हैं।) होती है। तीसरे और चौथे स्वर्ग में छ: अरत्नि पाँचवें, छठवें, सातवें और आठवें स्वर्गों में पाँच अरत्नि, नौवे, दशवे, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्गों में चार अरत्नि, तेरहवें और चौदहवें स्वर्गों में साढ़े तीन अरत्नि और पन्द्रहवें तथा सोलहवें स्वर्गों में तीन अरत्नि ऊँचाई है। अधोग्रैवेयिक में ढाई (२.५) अरत्नि, मध्य ग्रैवेयिक में दो अरत्नि, ऊर्ध्व ग्रैवेयिक में डेढ़ अरत्नि तथा नव अनुदिशों में भी डेढ़ अरत्नि ऊँचाई है और पांच अनुत्तरों में एक अरत्नि प्रमाण शरीर की ऊँचाई होती है।

प्रश्न - देवों के कौन सा शरीर होता है ?

उत्तर - देवों का शरीर अत्यन्त दिव्य व वैक्रियिक होता है। उनके शरीर में न तो दुर्गंध होती है और न मल, मूत्र, खून, हड्डी, चर्बी आदि होते हैं।

वैमानिक देवों में लेश्याएँ

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रिशेषेषु ॥२२॥

अर्थ - (द्वित्रिशेषेषु) दो युगलों में, तीन युगलों में, तथा शेष के समस्त विमानों में क्रम से (पीतपद्मशुक्ललेश्या:) पीत, पद्म और शुक्ललेश्याएँ (भवन्ति) होती हैं।

प्रश्न - स्वर्ग के देवों में कौन सी लेश्यायें होती हैं ?

उत्तर - पहले और दूसरे स्वर्ग में पीत लेश्या होती है, तीसरे और चौथे में पीत तथा पद्मलेश्या, पाँचवें से आठवें स्वर्गों में पद्म लेश्या और नौवें से बारहवें स्वर्गों में पद्म और शुक्ल लेश्या, तेरहवें स्वर्ग से नवग्रैवेयिक तक शुक्ल लेश्या तथा अनुदिश और अनुत्तरों में परमशुक्ल लेश्या होती है।

राजवार्तिक कार के अनुसार अनुत्तर विमानों में ही परमशुक्ल लेश्या होती है।

निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामित्व, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन अनुयोगों के द्वारा लेश्याओं का वर्णन करना चाहिए।

विशेष जानकारी राजवार्तिक ग्रन्थ से जानें।

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्य: कल्पा: ॥२३॥

अर्थ - (ग्रैवेयकेभ्य: प्राक्) ग्रैवेयकों से पहले-पहले अर्थात् १६ स्वर्ग (कल्पा:) कल्प (कथ्यन्ते) कहलाते हैं। सोलह स्वर्गों में इन्द्रादिक की कल्पना होती है इसीलिए इन्हें कल्प कहते हैं। इनसे आगे नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान कल्पातीत कहलाते हैं। क्योंकि ये सभी अहमिन्द्र होते हैं। अत: इनमें इन्द्र आदि की कल्पना नहीं होती।

लौकान्तिकों का लक्षण

ब्रह्म-लोकालया लौकान्तिका: ॥२४॥

अर्थ - (ब्रह्मलोकालया:) ब्रह्मलोक (पाँचवा स्वर्ग) है आलय (निवास स्थान) जिनका ऐसे देव (लौकान्तिका:) लौकान्तिक देव (कथ्यन्ते) कहे जाते हैं।

विशेषार्थ - ये देव ब्रह्मलोक के अन्त में रहते हैं और एक भवावतारी होते हैं तथा इनके लोक (संसार) का अन्त आ जाता है, इसलिये इन्हें लौकान्तिक कहते हैं। ये द्वादशाङ्ग के पाठी होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थङ्करों के केवल तप: कल्याणक मात्र में आते हैं। ये 'देवर्षि' भी कहे जाते हैं।

प्रश्न - लौकान्तिक देव किसे कहते हैं?

उत्तर - पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग की दिशा और विदिशाओं के अन्त में जो देव रहते हैं उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं। वे मनुष्य लोक के ऋषियों के समान त्यागी की तरह होते हैं। उनकी देवांगनायें नहीं होती हैं।

प्रश्न - लौकान्तिक देवों में कौन उत्पन्न होते हैं?

उत्तर - मनुष्य भव में उत्तम कुल में जन्म लेकर सर्वपरिग्रह के त्यागी मुनि होकर जो बहुत काल तक तपश्चर्या करते हैं सुख दु:ख शत्रु-मित्र में समभावी होते हैं, शरीर आदि से जो नि:स्पृह रहते हैं मुनिव्रत में दृढ रहते हैं। ऐसे नग्न दिगम्बर साधु मनुष्य भव को पूर्ण कर लौकान्तिक देव होते हैं।

प्रश्न - लौकान्तिक देवों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - लौकान्तिक देवों के शरीर की ऊँचाई पाँच अरत्नि प्रमाण होती है। ये सब सम्यग्दृष्टि होते हैं। ग्यारह अंग के पाठी होते हैं तथा एक भवावतारी होते हैं।

लौकान्तिक देवों के नाम

सारस्वतादित्य-बह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिताव्या बाधारिष्टाश्च ॥२५॥

अर्थ - लौकान्तिक देवों के सारस्वत, आदित्य, वह्नि अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ भेद हैं।

विशेषार्थ - ये ब्रह्म स्वर्ग की ईशान आदि आठ दिशाओं में क्रम से रहते हैं। ये सभी स्वतन्त्र हैं, किसी इन्द्र के आधीन नहीं हैं। सब समान हैं, इनमें कोई छोटा कोई बड़ा नहीं। विषयों से विरक्त रहते हैं इसलिये इन्हें देवर्षि कहते हैं। अन्य देव इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं और जब तीर्थङ्करों को वैराग्य होता है, उस समय उन्हें प्रतिबोधन करने के उद्देश्य से ये देव उनके पास जाते हैं।

सारस्वत देव सात सौ, आदित्य देव सौ, अग्निदेव सात हजार सात, अरणदेव सात हजार सात, गर्दतोय देव नौ हजार नौ, तुषितदेव नौ हजार नौ, अव्याबाध देव ग्यारह हजार ग्यारह, अरिष्ट देव भी ग्यारह हजार ग्यारह हैं।

अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार के नियम

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

अर्थ - (विजयादिषु) विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित विमानों के अहमिन्द्र 'द्विचरम' होते हैं। अर्थात् मनुष्य के दो जन्म (भव) लेकर अवश्य ही मोक्ष जाते हैं। अर्थात् विजयादिक से चयकर मनुष्य होते हैं। संयम धारण करके पुन: विजयादिक में जन्म लेते हैं। फिर वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं।

विजय आदि चार का उत्कृष्ट अन्तर दो सागर से अधिक है। विजयादिक से सौधर्म आदि स्वर्ग में उत्पन्न हों तो दो भव की विवक्षा नहीं है।

विशेषार्थ - सर्वार्थसिद्धि के देव, दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोकपाल, सौधर्म इन्द की इन्द्राणी और लौकान्तिक देव ये सभी मनुष्य का एक भव धारण कर मोक्ष जाते हैं।

अनुदिश तथा चार अनुत्तरों के देव एकभव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं। यहाँ अधिक से अधिक दो भव बतलाये हैं।

तिर्यञ्च का लक्षण

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अर्थ - (औपपादिक मनुष्येभ्यः) उपपाद जन्म वाले देव नारकी तथा मनुष्यों से (शेषाः) भिन्न जीव (तिर्यग्योनयः) तिर्यञ्च (सन्ति) हैं। तिर्यञ्च समस्त लोक में व्याप्त हैं परन्तु त्रसजीव त्रसनाली में ही रहते हैं।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु

स्थितिरसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्ध-हीनमिताः ॥२८॥

अर्थ - (भवनवासिषु) भवनवासियों में (असुर) असुरकुमार, (नाग) नागकुमार, (सुपर्ण) सुपर्णकुमार, (द्वीप) द्वीपकुमार और शेष ६ कुमारों की (स्थिति) उत्कृष्ट आयु क्रम से (सागरोपम) १ सागर, ३ पल्य तथा (अर्धहीनम् इताः) आधा-आधा पल्य कम अर्थात् २¹/₂ पल्य, २ पल्य और शेष की १¹/₂ पल्य की आयु है।

विशेषार्थ- भवनवासी देवों में असुरकुमार की १ सागर, नागकुमार की ३ पल्य, सुपर्णकुमार की २¹/₂ पल्य और द्वीपकुमार की २ पल्य तथा शेष विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनिक कुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार की १¹/₂ पल्य की आयु है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

अर्थ - (सौधर्मैशानयोः) सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु (सागरोपमे) दो सागर से कुछ (अधिके) अधिक है।

प्रश्न - देवों की आयु कुछ अधिक किस अपेक्षा से है ?

उत्तर - जिन जीवों ने सम्यग्दर्शन के साथ ऊपर के स्वर्गों के देवों की आयु बांधी हो वे यदि मरण समय मिथ्यात्व को प्राप्त होकर मरण करते हैं, तो उनकी कुछ अधिक की आयु होगी।

सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अर्थ - (सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः) सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

ब्रह्म से अच्युत स्वर्ग तक के देवों की उत्कृष्ट आयु

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

अर्थ - उपर्युक्त सात सागर में क्रम से (त्रि-सप्त-नव-एकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिः) ३/७/९/११/१३/१५ सागर (अधिकानि तु) जोड़ देने से आगे के छह कल्पयुगलों में देवों की उत्कृष्ट आयु होती है।

विशेषार्थ- ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में कुछ अधिक १० सागर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग में कुछ अधिक १४ सागर, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में कुछ अधिक १६ सागर, सतार और सहस्रार स्वर्ग में कुछ अधिक १८ सागर, आनत और प्राणत स्वर्ग में २० सागर की तथा आरण और अच्युत स्वर्ग मे २२ सागर की उत्कृष्ट आयु होती है।

नोट- सूत्र में तु शब्द का ग्रहण होने से बारहवें स्वर्ग तक के देवों की ही कुछ आधिक की आयु होती है।

ग्रैवेयिक, अनुदिश और अनुत्तरों में उत्कृष्ट आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयिकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च।।३२।।

अर्थ - (आरणाच्युतात्) आरण और अच्युत स्वर्ग से (ऊर्ध्वम्) ऊपर (नवसु ग्रैवेयिकेषु) नव ग्रैवेयिकों में नव अनुदिशों में, (विजयादिषु) विजय आदि चार विमानों में तथा (च) और (सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धि विमान में (एकैकेन) एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है।

विशेषार्थ- पहले ग्रैवेयक में २३ सागर, दूसरे में २४ सागर, तीसरे में २५ सागर, चौथे में २६ सागर, पांचवे में २७ सागर, छठे में २८ सागर, सातवे में २९ सागर, आठवे में ३० सागर, नौवे में ३१ सागर, नौ अनुदिशों में ३२ सागर और पांच अनुत्तरों में ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु है।

नोट - सूत्र में 'सवार्थसिद्धौ' इस पद को विजयादि से पृथक् कहने से सूचित होता है कि सर्वाथसिद्धि में केवल उत्कृष्ट आयु ही होती है जघन्य नहीं।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्यायु

अपरा पल्योपममधिकम्।।३३।।

अर्थ - सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में (अपरा) जघन्य आयु (पल्योपमम् अधिकम्) एक पल से कुछ अधिक है।

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा।।३४।।

अर्थ- ऊर्ध्वलोक में (पूर्वापूर्वा) पहले-पहले देवों की उत्कृष्ट आयु (परतः

परत:) आगे आगे के देवों में (अनन्तरा) जघन्य आयु है।

विशेषार्थ- सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर की है वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। अर्थात् सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु कुछ अधिक है। इसी प्रकार शेष स्वर्गों में भी जानना चाहिये। सवार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती।

द्वितीयादि नरकों में जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

अर्थ - (द्वितीयादिषु) दूसरे आदि नरकों में (नारकाणां च) नारकियों की जघन्य आयु भी देवों के समान है। अर्थात् पहले नरक में जितनी उत्कृष्ट आयु है उतनी ही दूसरे नरक में जघन्य आयु है। इसी तरह समस्त नरकों में जानना चाहिये।

प्रथम नरक में जघन्य आयु

दश-वर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अर्थ- (प्रथमायाम्) पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु (दशवर्षसहस्राणि) दस हजार वर्ष (१००००) की है।

भवनवासी देवों में जघन्य आयु

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ - (च) और (भवनेषु) भवनवासी देवों में भी जघन्यायु दश हजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों में जघन्य आयु

व्यन्तराणां च ॥३८॥

अर्थ - (च) और (व्यन्तराणाम्) व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दशहजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों में उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

अर्थ - (व्यन्तरेषु) व्यन्तर देवों में (परा) उत्कृष्ट आयु (पल्योपममधिकम्) कुछ अधिक एकपल्य है।

असंख्यात वर्षों का एक पल्य होता है और दश कोड़ाकोड़ी पल्यों का एक सागर होता है।

ज्योतिषी देवों में उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

अर्थ - ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एकपल्य है।

ज्योतिष्क देवों में जघन्य आयु

तदष्ट-भागोऽपरा ॥४१॥

अर्थ- ज्योतिष्क देवों में जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग है।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अर्थ - (सर्वेषाम्) समस्त (लौकान्तिकानाम्) लौकान्तिक देवों में जघन्य और उत्कृष्ट आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागर प्रमाण (अस्ति) है।

इन सर्व लौकान्तिक देवों के शरीर का उत्सेध पांच हाथ प्रमाण है और सर्व लौकान्तिक देव शुक्ललेश्या के धारी हैं।

प्रश्न - ऊर्ध्वलोक की रचना किस प्रकार होती है ?

उत्तर - स्वर्गों में दो-दो युगल स्वर्ग अर्थात् आठ युगलों में सोलह स्वर्ग हैं। स्वर्गों के ऊपर ऊपर नवग्रैवेयिक हैं। ग्रैवेयिक के ऊपर नव अनुदिश हैं, (उनमें एक बीच में तथा आठ चारों दिशाओं और विदिशाओं में हैं।) अनुदिश के ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं, (सर्वार्थसिद्धि बीच में और चार विमान चारों दिशाओं में होते हैं।) इस प्रकार ऊर्ध्वलोक की रचना होती है। इन सबसे ऊपर मोक्ष है।

प्रश्न - सिद्ध शिला कहाँ पर है ?

उत्तर - सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से बारह योजन ऊँची ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके बीच में पैंतालीस लाख योजन के विस्तार में सिद्ध शिला पर अनन्त सिद्ध भगवान् विराजमान हैं।

प्रश्न - ऊर्ध्वलोक में कितने पटल होते हैं ?

उत्तर - ऊर्ध्वलोक में त्रेसठ पटल होते हैं। उन पटलों में देवों के विमान होते हैं। सोलह स्वर्गों में बावन पटल, नवग्रैवेयिकों में नौ पटल, नव अनुदिशों में एक पटल और पाँच अनुत्तरों में एक पटल होता है इस प्रकार कुल त्रेसठ पटल होते हैं।

प्रश्न - ऊर्ध्वलोक में कितने विमान होते हैं ?

उत्तर - ऊर्ध्वलोक में चौरासी लाख सत्तानवें हजार तेईस विमान होते हैं। प्रत्येक विमान में एक-एक जिनालय होता है, इनकी संख्या भी विमानों के समान होती

है।

प्रश्न - ऊर्ध्वलोक में चौरासी लाख सत्तानवें हजार तेईस विमान किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर - सौधर्मस्वर्ग में बत्तीस लाख, ईशानस्वर्ग में अट्ठाईस लाख, सानत्कुमारस्वर्ग में बारह लाख, माहेन्द्र स्वर्ग में आठ लाख, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में चार लाख, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में पचास हजार, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में चालीस हजार, शतार और सहस्रार स्वर्ग में छ: हजार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गों में सात सौ, तीन अध: ग्रैवेयिकों में एक सौ ग्यारह, तीन मध्यग्रैवेयिकों में एक सौ सात, तीन ऊर्ध्वग्रैवेयिकों में इक्यानवें, नव अनुदिशों में नौ, पाँच अनुत्तरों में पाँच विमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक में चौरासी लाख सत्तानवें हजार तेईस विमान होते हैं।

प्रश्न - मानस्तम्भ किन स्वर्गों में होते हैं ?

उत्तर - सौधर्मस्वर्ग से चौथे माहेन्द्रस्वर्ग तक इन चार स्वर्गों में बड़े सुन्दर मानस्तम्भ होते हैं। उन मानस्तम्भों में तीर्थंकरों के वस्त्र व आभूषण रखने के रत्नमयी सुंदर पिटारे होते हैं।

प्रश्न - तीर्थंकरों के वस्त्राभूषण किन मानस्तम्भ में होते हैं ?

उत्तर - पहले सौधर्मस्वर्ग के मानस्तम्भ में भरतक्षेत्र के, दूसरे ईशानस्वर्ग के मानस्तम्भ में ऐरावत क्षेत्र के, तीसरे सानत्कुमारस्वर्ग के मानस्तम्भ में पूर्व विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों के और चौथे माहेन्द्रस्वर्ग के मानस्तम्भ में पश्चिम विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों के वस्त्राभूषण होते हैं।

प्रश्न - देवांगनाओं की उत्पत्ति कौन से स्वर्ग तक होती है ?

उत्तर - स्वर्गों की समस्त देवांगनाओं की उत्पत्ति पहले व दूसरे स्वर्ग में ही होती है, अपने अपने स्वर्ग के देव व इन्द्र अपनी-अपनी नियोगिनी (देवांगनाओं) को अपने विमानों में ले जाते हैं।

प्रश्न - कितने विमानों में मात्र देवांगनायें रहती हैं ?

उत्तर - पहले स्वर्ग के छ: लाख विमानों में और दूसरे स्वर्ग के चार लाख विमानों में मात्र देवांगनायें ही रहती हैं।

प्रश्न - कितने विमानों में देव और देवांगनायें रहते हैं ?

उत्तर - पहले स्वर्ग के छब्बीस लाख विमानों में एवं दूसरे स्वर्ग के चौबीस लाख विमानों में देव और देवांगनायें रहती हैं।

प्रश्न - स्वर्गों के देव व ग्रैवेयिक के देव क्या कहलाते हैं ?

उत्तर - स्वर्गों के देव कल्पवासी कहलाते हैं और ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते हैं। स्वर्ग के ऊपर नवग्रैवेयिक नव अनुदिश पाँच अनुत्तर के विमानों के सब देव अहमिन्द्र कहलाते हैं, उनके वहाँ देवांगनायें नहीं होती, वे सब समान होते हैं।

प्रश्न - सौधर्म और ईशानस्वर्गों के इन्द्र की कितनी देवियाँ होती हैं ?

उत्तर - सौधर्म और ईशानस्वर्गों के इन्द्र की कुल एक लाख साठ हजार देवियाँ और आठ-आठ अग्रदेवियाँ होती हैं।

प्रश्न - स्वर्गों के बारह इन्द्रों में कौन से इन्द्र दक्षिणेन्द्र व उत्तरेन्द्र कहलाते हैं ?

उत्तर - स्वर्गों के बारह इन्द्रों में सौधर्मेन्द्र सानत्कुमार, ब्रह्म, लान्तव, आनत और आरण ये छ: दक्षिणेन्द्र तथा ऐशान, माहेन्द्र, शुक्र, शतार, प्राणत और अच्युत ये छ: उत्तरेन्द्र कहलाते हैं।

प्रश्न - स्वर्गों के छ: दक्षिणेन्द्रों की देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है ?

उत्तर - स्वर्गों के छ: दक्षिणेन्द्रों की देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु क्रम से पाँच पल्य, नौ पल्य, तेरह पल्य, सत्रह पल्य, चौतीस पल्य तथा अड़तालीस पल्य की होती है। ये दक्षिणेन्द्र एक भवावतारी होती है।

प्रश्न - स्वर्गों के छ: उत्तरेन्द्रों की देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है ?

उत्तर - स्वर्गों के छ: उत्तरेन्द्रों के देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु क्रम से सात पल्य, ग्यारह पल्य, तेईस पल्य, सत्ताईस पल्य, इकतालीस पल्य और पचपन पल्य की होती है।

प्रश्न - देवों का आहार कितने समय के बाद व कौन सा होता है ?

उत्तर - जिन देवों की आयु एक सागर की होती है उनका एक हजार वर्ष में एक बार दिव्य अमृतमय मानसिक आहार होता है। जिन देवों की जितने सागर की आयु

होती है उतने हजार वर्षों में उनका आहार होता है।

प्रश्न - व्यंतर देवों का आहार कितने समय के बाद होता है ?

उत्तर - व्यंतर देवों का आहार जघन्य रूप से दो दिन के अन्तराल से तथा उत्कृष्ट पाँच दिनों के अंतराल से होता है।

प्रश्न - व्यन्तर देव अवधिज्ञान के माध्यम से कहाँ तक की बात जान सकते हैं ?

उत्तर - व्यन्तर देव अवधिज्ञान के माध्यम से उत्कृष्ट पचास कोस और जघन्य पाँच कोस तक की बात जान सकते हैं।

प्रश्न - देवों के कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर - देवों में प्रारम्भ के प्रथम गुणस्थान से लेकर चार गुणस्थान होते हैं।

प्रश्न - एक भवावतारी देव कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर - प्रथम सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र तथा उसकी शचि (मुख्य इन्द्राणी), सौधर्मेन्द्र के लोकपाल, छः दक्षिणेन्द्र, पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग के अंत में रहने वाले लौकान्तिक देव एवं सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र ये सब एक भवावतारी होते हैं। अर्थात् देव पर्याय से चयकर मनुष्य भव पाकर नियम से मोक्ष जाते हैं।

प्रश्न - भवनवासी देवों का बल कितना होता है ?

उत्तर - भवनवासी देवों का बल इतना होता है कि समस्त जम्बूद्वीप को उलट सकें तथा जम्बूद्वीप के समस्त मनुष्य व तिर्यञ्चों को मार सकें या उनकी रक्षा कर सकें।

प्रश्न - भवनवासी देवों में कौन से जीव उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - भवनवासी देवों में मिथ्यात्वी मनुष्य, विनय रहित, झूठ वचन बोलने वाले, हँसी व खुशामद करने वाले, अनेक प्रकार के कौतूहल करने वाले और चापलूसी करने वाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न - असुरकुमारादि भवनवासी देवों के मुकुटों में किनके चिह्न होते हैं ?

उत्तर - असुरकुमारादि भवनवासी देवों के मुकुटों में क्रमशः चूडामणि, सर्प, गरुड, हाथी, मगर, वर्द्धमान (घड़ा) वज्र, सिंह, कलश और अश्व के चिह्न होते हैं। चैत्यवृक्ष और ध्वजा भी इनके चिह्न हैं।

प्रश्न - भवनत्रिक देवों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

उत्तर - असुरकुमार देवों के शरीर की ऊँचाई पच्चीस धुनष है। शेष नागकुमारादि नौ प्रकार के भवनवासी एवं व्यन्तर देवों के शरीर की ऊँचाई दस धनुष तथा ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष प्रमाण होती है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) चतुर्थोऽध्याय: ॥४॥

❁❁❁

पंचम अध्याय

अजीव तथा बहुप्रदेशी द्रव्य के भेद व नाम

अजीव-काया धर्माधर्माकाश-पुद्गला: ॥१॥

अर्थ- (धर्माधर्माकाशपुद्गला:) धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार (अजीवकाया:) अजीव तथा बहुप्रदेशी द्रव्य हैं।

द्रव्यों की गणना

द्रव्याणि ॥२॥

अर्थ - धर्मादिक चार पदार्थ द्रव्य हैं ?

जीव के द्रव्यपना

जीवाश्च ॥३॥

अर्थ - जीव भी द्रव्य है।

विशेषार्थ - यहाँ 'जीवा:' इस बहुवचन से जीवद्रव्य के अनेक भेद सूचित होते हैं। इनके सिवाय ३९ वें सूत्र में कालद्रव्य का भी कथन होगा। इसलिये इन सबको मिलाने पर जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य ये छह द्रव्य होते हैं।

द्रव्यों की विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

अर्थ - ऊपर कहे हुये सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं।

भावार्थ - कभी नष्ट नहीं होते, इसलिये नित्य हैं। अपनी छह संख्या का उल्लंघन नहीं करते इसलिये अवस्थित हैं। और रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित हैं इसलिये अरूपी हैं।

पुद्गलद्रव्य के रूपित्व का वर्णन

रूपिणः पुद्गलाः ।।५।।

अर्थ - पुद्गलद्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक है।

विशेषार्थ - यद्यपि सूत्र में पुद्गल को केवल रूपी बतलाया है, परन्तु साथ रहने से रस, गन्ध तथा स्पर्श का भी ग्रहण हो जाता है।

धर्मादिक द्रव्यों की संख्या

आ आकाशादेकद्रव्याणि ।।६।।

अर्थ - आकाशपर्यन्त द्रव्य एक-एक हैं।

विशेषार्थ- धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। जीवद्रव्य अनन्त हैं। पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। कालद्रव्य असंख्यात (अणुरूप) हैं।

धर्मादिक तीन द्रव्यों की निष्क्रियता

निष्क्रियाणि च ।।७।।

अर्थ - धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य क्रियारहित हैं।

क्रिया - एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्त होने को क्रिया कहते हैं।

नोट- धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं तथा आकाशद्रव्य लोक और अलोक दोनों जगह व्याप्त है। इसलिये अन्य क्षेत्र का अभाव होने से इनमें हलन चलन रूप क्रिया नहीं होती।

धर्म, अधर्म और एकजीव द्रव्य के प्रदेश

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक-जीवानाम् ।।८।।

अर्थ - (धर्माधर्मैकजीवानाम्) धर्म, अधर्म और एक जीवद्रव्य के (असंख्येयाः) असंख्यात (प्रदेशाः) प्रदेश होते हैं।

प्रदेश - जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोकता है उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं।

नोट - सब जीव द्रव्यों के अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं। इसलिये सूत्र में 'एकजीव' का ग्रहण किया है।

आकाशद्रव्य के प्रदेश

आकाशस्यानन्ताः ।।९।।

अर्थ - आकाश द्रव्य के अनन्तप्रदेश हैं।

विशेषार्थ- आकाश द्रव्य के अनन्तप्रदेश हैं। परन्तु लोकाकाश के असंख्यात ही प्रदेश हैं।

पुद्गल द्रव्य के प्रदेश

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अर्थ - (पुद्गलानाम्) पुद्गलों के (संख्येय असंख्येया:च) संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

शङ्का - जब लोकाकाश में असंख्यात ही प्रदेश हैं तब उसमें अनन्त प्रदेश वाले पुद्गल तथा शेष द्रव्य किस तरह रह सकेंगे ?

समाधान - पुद्गल द्रव्य में दो तरह का परिणमन होता है एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसमें सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाश के एक प्रदेश में भी अनन्त प्रदेश वाला पुद्गल स्कन्ध स्थान पा लेता है। इसके सिवाय समस्त द्रव्यों में एक दूसरे को अवगाहन देने की सामर्थ्य है, जिसमें अल्पक्षेत्र में ही समस्त द्रव्यों के निवास में कोई बाधा नहीं होती।

परमाणु के प्रदेश

नाणोः ॥११॥

अर्थ - पुद्गल परमाणु के दो आदि प्रदेश (खण्ड) नहीं होते अर्थात् वह एकप्रदेशी ही है।

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

अर्थ - समस्त द्रव्यों का अवगाहन (स्थान) लोकाकाश में है।

लोकाकाश - आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य रहते हैं उतने हिस्से को लोकाकाश कहते हैं। शेष आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य के रहने का स्थान

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

अर्थ - धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तैल की तरह समस्त लोकाकाश में है।

पुद्गल के रहने का स्थान

एक-प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थ - (पुद्गलानाम्) पुद्गल द्रव्य का अवगाहन (एकप्रदेशादिषु) लोकाकाश

के एक प्रदेश को लेकर संख्यात असंख्यात प्रदेशों में (भाज्य:) विभाग करने योग्य है।

एकजीव के रहने का स्थान

असंख्येय-भागादिषु जीवानाम्॥१५॥

अर्थ - (जीवानाम्) जीवों का अवगाह (असंख्येयभागादिषु) लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक क्षेत्र में (अस्ति) है।

जीवद्रव्य का लोक के असंख्यातवें भाग में रहने का स्पष्टीकरण

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्या प्रदीपवत्॥१६॥

अर्थ - (प्रदीपवत्) दीपक के प्रकाश की तरह (प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम्) प्रदेशों के संकोच और विस्तार द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है।

अर्थात् जिस तरह एक बड़े मकान में दीपक के रख देने से उसका प्रकाश समस्त मकान में फैल जाता है। उसी दीपक को एक छोटे बर्तन के भीतर रख देने से उसका प्रकाश उसी में संकुचित होकर रह जाता है। उसी तरह जीव भी जितना बड़ा या छोटा शरीर पाता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है।

परन्तु केवलिसमुद्घात अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है और सिद्ध अवस्था में अन्तिम शरीर से कुछ कम रहता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य या लक्षण

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार: ॥१७॥

अर्थ - स्वयं चलते हुये जीव और पुद्गल को चलने में सहायता देना धर्मद्रव्य का तथा स्वयं ठहरते हुये जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायता देना अधर्मद्रव्य का उपकार या काम है।

विशेषार्थ- जो जीव और पुद्गलों को चलने में सहायक होता है उसे धर्मद्रव्य तथा जो ठहरने में सहायक होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।

आकाश द्रव्य का उपकार या कार्य

आकाशस्यावगाह: ॥१८॥

अर्थ - समस्त द्रव्यों को अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार या काम है।

विशेषार्थ - जो सब द्रव्यों को ठहरने के लिये स्थान देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

पुद्गलद्रव्य का उपकार या कार्य

शरीरवाङ्मन: प्राणापाना: पुद्गलानाम्॥१९॥

अर्थ - औदारिक आदि शरीर, वचन, मन तथा स्वासोच्छ्वास ये पुद्गलद्रव्य के उपकार या काम हैं।

अर्थात् शरीरादिक की रचना पुद्गल द्रव्य से ही होती है।

पुद्गलद्रव्य का उपकार या कार्य

सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

अर्थ - इन्द्रियजन्य सुख, दु:ख, जीवन और मरण ये भी पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं।

विशेषार्थ - इस सूत्र में जो उपग्रह शब्द का ग्रहण किया है उससे सूचित होता है कि पुद्गल परस्पर में एक दूसरे का भी उपकार करते हैं। जैसे - राख कांसे का और साबुन कपड़े का इत्यादि। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ निमित्तमात्र ही समझना चाहिये। अन्यथा दु:ख, मरण आदि उपकार नहीं कहलावेंगे।

जीवों का उपकार या कार्य

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थ - आपस में एक दूसरे की सहायता करना जीवद्रव्य का उपकार है।

जैसे - स्वामी सेवक का, सेवक स्वामी का, गुरु शिष्य का और शिष्य गुरु का उपकार करता है।

कालद्रव्य का उपकार या कार्य

वर्तना-परिणाम-क्रिया:परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ - वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तना - सर्वद्रव्य अपने आप वर्तते हैं तथापि उनके वर्तन में जो बाह्य सहकारी कारण होता है उसे वर्तना कहते हैं।

परिणाम - अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे - जीवों के परिणाम क्रोधादि और पुद्गलों के परिणाम अणु आदि।

क्रिया - एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने को क्रिया कहते हैं।

परत्वापरत्व - छोटे बड़े के व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं। जैसे - २५ वर्ष के मनुष्य को बड़ा और २० वर्ष के मनुष्य को उसकी अपेक्षा छोटा कहते हैं। ये सब कालद्रव्य की सहायता से होते हैं। इसलिये इन्हें देखकर अमूर्तिक निश्चय कालद्रव्य का अनुमान कर लेना चाहिये।

पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अर्थ - जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण होता है उसे पुद्गल कहते हैं।

विशेषार्थ - स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चार गुण हर एक पुद्गल में एक साथ और अवश्य रहते हैं। इनके उत्तर भेद इस प्रकार हैं।

स्पर्श के आठ भेद - हल्का, भारी, स्निग्ध, रूक्ष, कोमल, कठोर, शीत और उष्ण।

रस के पांच भेद - खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला और चरपरा।

गन्ध के दो भेद - सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण के पांच भेद - काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। ये बीस पुद्गल के गुण हैं।

पुद्गल की पर्यायें

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य संस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अर्थ - शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार) भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं।

पुद्गल के भेद

अणव: स्कन्धाश्च ॥२५॥

अर्थ - पुद्गल के दो भेद हैं - अणु और स्कन्ध।

अणु - जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, उस अविभागी एकप्रदेशी पुद्गलद्रव्य को अणु या परमाणु कहते हैं।

स्कन्ध - दो, तीन, संख्यात तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड (समूह) को स्कन्ध कहते हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण

भेद-संघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥

अर्थ - (भेदसंघातेभ्य:) भेद (बिछुड़ने) संघात (मिलने) और भेदसंघात दोनों से (उत्पद्यन्ते) स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। बिछड़ने और मिलने से स्कंधों की उत्पत्ति होती है।

विशेषार्थ - जैसे २० परमाणु वाला स्कन्ध हैं, उसमें १० परमाणु बिखर जाने से १० परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है। उसी में १० परमाणु मिल जाने से ३० परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है। तथा उसी में एक साथ १० परमाणुओं के बिछुड़ने और १५ परमाणुओं के मिल जाने से २५ परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है।

नोट - सूत्र में द्विवचन के स्थान में जो बहुवचन रूप प्रयोग किया है, उसी से यह तीसरा अर्थ सूचित हुआ है।

परमाणु की उत्पत्ति का कारण

भेदादणुः ॥२७॥

अर्थ - अणु की उत्पत्ति स्कन्धों के भेद (टूटने) से ही होती है।

चाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण

भेद-सङ्घाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अर्थ - (चाक्षुषः) चक्षु इन्द्रिय से दिखने योग्य स्कन्ध (भेदसंघाताभ्याम्) भेद और संघात दोनों से ही (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है। केवल भेद से उत्पन्न नहीं हो सकता।

द्रव्य का लक्षण

सद् द्रव्य-लक्षणम् ॥२९॥

अर्थ - द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

सत् का लक्षण

उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत् ॥३०॥

अर्थ - (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित होता है वह (सत्) सत् है।

उत्पाद - द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी की पिण्डपर्याय से घटपर्याय का उत्पाद।

व्यय - पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे घटपर्याय उत्पन्न होने पर पिण्डपर्याय का विनाश।

ध्रौव्य - पूर्व पर्याय का विनाश और नवीन पर्याय का उत्पाद होने पर भी सदा बने रहने वाले मूल स्वभाव को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे पिण्ड तथा घट दोनों पर्यायों में मिट्टी का रहना।

ध्रौव्य का लक्षण

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

अर्थ - (तद्भावाव्ययम्) तद्भावरूप से जो अव्यय है, नष्ट नहीं होता वह (नित्यम्) नित्य (कथ्यते) कहलाता है।

विशेषार्थ - नित्य का तात्पर्य यह नहीं है कि जो वस्तु जिस रूप में है वह सदा

उसी रूप में बनी रहे और उसमें कुछ भी परिणमन न हो। किन्तु परिणमन के होते हुये भी उसमें ऐसी एकरूपता का बना रहना ही नित्यता है, जिसे देखकर हम तुरन्त पहिचान लें कि यह वही वस्तु है जिसे पहले देखा था।

पदार्थ में यह नित्यता सामान्यस्वरूप की अपेक्षा ही होती है विशेष पर्याय की अपेक्षा सभी द्रव्ये अनित्य हैं। इसलिये संसार के सभी पदार्थ नित्यानित्य रूप हैं।

एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति

अर्पितानर्पित-सिद्धेः ॥३२॥

अर्थ - मुख्यता (प्रधानता या विवक्षा) तथा गौणता (अप्रधानता या अविवक्षा) से अनेक धर्म वाली वस्तु का कथन होता है।

विशेषार्थ - वस्तु में विवक्षित और अविवक्षित अनेक धर्म रहते हैं। पितृत्व, पुत्रत्व और मातुलत्व आदि की तरह एक ही वस्तु में अनेक धर्म रहने पर भी विरोध नहीं आता। उन अनेक धर्मों में वक्ता जिस धर्म को कहने की इच्छा करता है वह धर्म अर्पित (विवक्षित या मुख्य) कहलाता है और वक्ता उस समय जिस धर्म को नहीं कहना चाहता है। वह धर्म अनर्पित (अविवक्षित या गौण) कहलाता है।

जैसे वक्ता यदि द्रव्यार्थिकनय से वस्तु का कथन करेगा तो वस्तु की नित्यता विवक्षित कहलायेगी और यदि पर्यायार्थिक नय से वस्तु का कथन करेगा तो वस्तु की अनित्यता विवक्षित होगी।

जिस समय किसी वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य कहा जाता है उसी समय वस्तु पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है। परन्तु वह अनित्यता कही नहीं जा रही, क्योंकि दो धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते। किन्तु एक-साथ रह सकते हैं।

परमाणुओं के बन्ध होने में कारण

स्निग्ध-रूक्षत्वाद्बन्धः ॥३३॥

अर्थ - चिकनाई और रूखापन के निमित्त से परमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है।

बन्ध-अनेक पदार्थों में एकपने का ज्ञान करने वाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं।

एक गुण वाले परमाणु में बन्ध का अभाव

न जघन्य-गुणानाम् ॥३४॥

अर्थ - जघन्यगुण वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ- अतः जिन परमाणुओं में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है उनका बन्ध नहीं होता।

गुण - स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेदों (जिनका टुकड़ा नहीं हो सके ऐसे अंशों) को गुण कहते हैं।

जघन्यगुण वाले परमाणु - जिस परमाणु में स्निग्धता और रूक्षता का एक अविभागी अंश होता है, उसे जघन्यगुण सहित परमाणु कहते हैं।

बन्धाभाव का नियम

गुण-साम्ये सदृशानाम्॥३५॥

अर्थ - (गुणसाम्ये) गुणों की समानता होने पर (सदृशानाम्) सजातीय परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ - जैसे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का एक दूसरे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। यदि बँधने वाले दो परमाणु सजातीय हों और उनमें बराबर-बराबर अविभागी प्रतिच्छेद हों तो उनका भी बन्ध नहीं होता।

दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। यदि गुणों में संख्या से विषमता हो (समानता न हो) तो सजातीयों का भी बन्ध होता है।

नोट - सूत्र में दिये गये "सदृशानाम्" पद से सूचित होता है कि गुणों की विषमता में समानजाति वाले अथवा भिन्न जाति वाले पुद्‌गलों का बन्ध हो जाता है।

बन्ध किसका होता है

द्वयधिकादि-गुणानां तु॥३६॥

अर्थ - किन्तु दो अधिक गुण वाले के साथ ही बन्ध होता है।

विशेषार्थ- अर्थात् जब एक परमाणु से दूसरे परमाणु में दो अधिक गुण होते हैं तभी बन्ध होता है। जैसे दो गुण वाले परमाणु का बन्ध चार गुण वाले परमाणु के साथ होता है। तीन गुण वाले परमाणु का बन्ध पांच गुण वाले परमाणु के साथ होता है। परन्तु इससे अधिक व कम गुण वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। यह बन्ध स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ तथा रूक्ष का स्निग्ध के साथ होता है।

बन्ध होने पर होने वाली अवस्था

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च॥३७॥

अर्थ - (च) और (बन्धे) बन्ध होने पर (अधिकौ) अधिक गुण वाले परमाणु (पारिणामिकौ) कम गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप परिणमाने वाले (भवतः) होते हैं।

विशेषार्थ - बन्ध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कमगुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है। जैसे गीला गुड़ अपने साथ बन्ध को प्राप्त होते हुये रज को गुड़रूप परिणमा लेता है। इससे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और उनके रस,रूप आदि गुणों में भी परिवर्तन होकर स्निग्ध बन जाता है। इसी से बंधने वाले परमाणुओं में दो गुण का अन्तर रखा है। इससे अधिक अन्तर होने से परमाणु दूसरे में मिल तो सकता है किन्तु फिर तीसरी अवस्था प्रगट नहीं हो सकती। क्योंकि अल्पगुण वाला अपने से अधिकगुण वाले पर कुछ भी असर नहीं डाल सकता। इसी प्रकार अन्तर न रहने से भी दोनों समान बलशाली होने से एक दूसरे को अपने रूप नहीं परिणमा कर अलग-अलग ही रह जाते हैं।

द्रव्य का दूसरा लक्षण

गुणपर्ययवद् द्रव्यम्॥३८॥

अर्थ - जिसमें गुण या पर्याय पाये जाते हैं उसे द्रव्य कहते हैं।

गुण - द्रव्य में अनेक पर्याय पलटने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् नहीं होता, सदा द्रव्य के साथ ही रहता है उसे गुण कहते हैं। जैसे जीव के ज्ञान आदि और पुद्गल के रूप, रस आदि।

पर्याय - क्रम से होने वाली वस्तु की विशेषता को पर्याय कहते है। अथवा द्रव्य में विक्रिया होती है अथवा जो अवस्था बदलती है उसे पर्याय कहते हैं। जैसे जीव की नर नारक आदि।

नोट - यह द्रव्य का लक्षण पूर्व लक्षण से भिन्न नहीं है। सिर्फ शब्द भेद है, अर्थभेद नहीं। क्योंकि पर्याय से उत्पाद और व्यय की तथा गुण से ध्रौव्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

काल भी द्रव्य है

कालश्च॥३९॥

अर्थ - काल भी द्रव्य है, क्योंकि यह भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों से सहित है।

विशेषार्थ - यह काल द्रव्य रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक् रहते हुये लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर स्थित है। यह एक प्रदेशी और अमूर्तिक है।

१- 'च' का अन्वय 'द्रव्याणि' सूत्र के साथ है।

कालद्रव्य की विशेषता

सोऽनन्त-समयः॥४०॥

अर्थ - यह कालद्रव्य अनन्त समय वाला है।

यद्यपि वर्तमान काल एक समय मात्र ही है, तथापि भूत भविष्यत् की अपेक्षा अनन्त समय वाला है।

समय - कालद्रव्य के सबसे छोटे हिस्से को समय कहते हैं। मन्दगति से चलने वाला पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जितने काल में पहुँचता है उतने काल को एक समय कहते हैं। इन समयों के समूह से ही आवलि, घण्टा आदि व्यवहार काल होता है। वह व्यवहार काल निश्चयकाल द्रव्य की पर्याय हैं।

निश्चयकाल द्रव्य - लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह जो एक-एक कालाणु स्थित है उसे निश्चयकाल द्रव्य कहते हैं। वर्तना उसका कार्य है।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

अर्थ - जो सदा द्रव्य में रहता है और जिसमें स्वयं दूसरा गुण नहीं रहता उसे गुण कहते हैं। जैसे जीव का ज्ञान आदि। ज्ञान जीवद्रव्य के आश्रित रहता है तथा इसमें कोई दूसरा गुण नहीं रहता, इसलिये ज्ञान को गुण जानना।

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

अर्थ - जीवादि द्रव्य जिस रूप हैं उनके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं। जैसे -जीव की नर नारकादि पर्याय।

शङ्का - यदि धर्मादिक द्रव्यें 'निष्क्रिय' हैं तो उनमें उत्पाद नहीं हो सकता। क्योंकि कुम्हार मिट्टी को चाक पर रखकर जब घुमाता है तभी घट की उत्पत्ति होती है। अतः बिना क्रिया के उत्पाद नहीं हो सकता। और जब उत्पाद नहीं होगा तब व्यय भी नहीं होगा ?

उत्तर - उत्पाद दो प्रकार का है - स्वनिमित्तक और परनिमित्तक। जैनागम में अगुरुलघु नाम के अनन्त गुण माने गये हैं, जो प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं। उन गुणों में छह प्रकार की हानि या वृद्धि सदा होती रहती है। उनके निमित्त से द्रव्यों में स्वभाव से ही सदा उत्पाद व्यय हुआ करता है वह स्वनिमित्तक उत्पाद व्यय है। तथा धर्मादि द्रव्यें प्रतिसमय अश्व आदि अनेक जीवों और पुद्गलों के गमन में, ठहरने में और अवकाश देने में निमित्त होती हैं। और गति वगैरह में प्रतिरक्षण परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

❁❁❁

षष्ठ अध्याय

आस्रवतत्त्व का वर्णन

योग के भेद या स्वरूप

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ।।१।।

अर्थ - काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं अर्थात् काय, वचन और मन के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होने को योग कहते हैं।

विशेषार्थ - योग के तीन भेद हैं - मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

मनोयोग- मन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

वचनयोग - वचन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे वचनयोग कहते हैं।

काययोग - काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे काययोग कहते हैं। इन तीनों योगों की उत्पत्ति में वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम कारण है।

आस्रव का स्वरूप

स आस्रवः ।।२।।

अर्थ - वह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है।

विशेषार्थ- जिस प्रकार कुंए के भीतर पानी आने में झिरें कारण होती हैं उसी प्रकार आत्मा के कर्म आने में योग कारण है।

आस्रव- कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

नोट - यद्यपि योग आस्रव के होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर उसे आस्रवरूप कह दिया है। जैसे - प्राणों की स्थिति में कारण होने से अन्न को ही प्राण कह देते हैं।

योग के निमित्त से आस्रव के भेद

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ।।३।।

अर्थ - (शुभः) शुभयोग (पुण्यस्य) पुण्यकर्म के आस्रव का और (अशुभः) अशुभयोग (पापस्य) पापकर्म के आस्रव का कारण है।

शुभयोग - शुभ परिणामों से रचे हुये योग को शुभ योग कहते हैं। जैसे -

अरिहन्त की भक्ति करना, जीवों की रक्षा करना आदि।

अशुभयोग - अशुभ परिणामों से रचे हुये योग को अशुभयोग कहते हैं। जैसे - जीवों की हिंसा करना, झूठ बोलना आदि।

पुण्य - जो आत्मा को पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं।

पाप - जो आत्मा को अच्छे कार्यों से बचाता है, दूर हटाता है उसे पाप कहते हैं।

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

अर्थ - कषाय सहित जीव के साम्परायिक आस्रव और कषायरहित जीव के ईर्यापथ आस्रव होता है।

कषाय - जो आत्मा को कषता दु:ख देता या पराधीन करता है उसे कषाय कहते हैं। जैसे - क्रोध, मान, माया, लोभ।

विशेषार्थ - आस्रव के दो भेद हैं - साम्परायिक और ईर्यापथ।

साम्परायिक आस्रव - जिस आस्रव का संसार ही प्रयोजन है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

ईर्यापथ - स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

साम्परायिक आस्रव पहले गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक के जीवों को होता है। ईर्यापथ आस्रव ११ वें से १३ वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है। चौदहवें गुणस्थान में आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है।

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः पञ्च चतुः पञ्च-पञ्चविंशति- संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थ - पांच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पांच अव्रत और पच्चीस क्रियायें ये सब साम्परायिक आस्रव के भेद हैं। अर्थात् इन ३९ भेदों के द्वारा साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है।

पच्चीस क्रियायें निम्न हैं -

(१) **सम्यक्त्व क्रिया**- सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली अर्हन्त पूजा आदि क्रिया को सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं।

(२) **मिथ्यात्वक्रिया**- मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली कुदेवपूजा आदि क्रिया को

मिथ्यात्वक्रिया कहते हैं।

(३) **प्रयोगक्रिया-** शरीरादि से गमनागमन रूप प्रवृत्ति करने को प्रयोगक्रिया कहते हैं।

(४) **समादानक्रिया-** संयमी का असंयम के सन्मुख होने को समादानक्रिया कहते हैं।

(५) **ईर्यापथक्रिया-** ईर्यापथ से गमन के लिये जो क्रिया होती है उसे ईर्यापथक्रिया कहते हैं।

(६) **प्रादोषिकीक्रिया-** क्रोध के आवेश से द्वेषादिक रूप जो क्रिया होती है उसे प्रादोषिकीक्रिया कहते हैं।

(७) **कायिकीक्रिया-** मारना, गाली देना आदि दुष्टतापूर्वक उद्यम करने को कायिकीक्रिया कहते हैं।

(८) **आधिकरणिकी क्रिया-** हिंसा के उपकरण तलवार, छुरी आदि का ग्रहण करने को आधिकरणिकी क्रिया कहते हैं।

(९) **पारितापिकीक्रिया-** प्राणियों को दु:ख उत्पन्न करने वाली क्रिया को पारितापिकीक्रिया कहते हैं।

(१०) **प्राणातिपातिकीक्रिया-** दूसरे के शरीर इन्द्रिय आदि प्राणों का वियोग करने को प्राणातिपातिकीक्रिया कहते हैं।

(११) **दर्शनक्रिया-** राग के वशीभूत होकर मनोहर रूप देखना दर्शनक्रिया कहते हैं।

(१२) **स्पर्शनक्रिया-** राग के वशीभूत होकर वस्तु का स्पर्श करने को स्पर्शनक्रिया कहते हैं।

(१३) **प्रात्ययिकीक्रिया-** विषयों की नई-नई सामग्री जुटाने को प्रात्ययिकीक्रिया कहते हैं।

(१४) **समन्तानुपातक्रिया-** स्त्री पुरुष अथवा पशुओं के बैठने तथा सोने आदि के स्थान में मलमूत्रादि क्षेपण करने को समन्तानुपातक्रिया कहते हैं।

(१५) **अनाभोगक्रिया-** बिना देखी, बिना शोधी हुई जमीन पर उठने बैठने को अनाभोगक्रिया कहते हैं।

(१६) **स्वहस्तक्रिया-** दूसरे के द्वारा करने योग्य कार्य को स्वयं करने को स्वहस्तक्रिया कहते हैं।

(१७) **निसर्गक्रिया-** पाप की कारण प्रवृत्ति को भला समझने को निसर्गक्रिया कहते हैं।

(१८) **विदारणक्रिया-** पर के द्वारा किये हुये पापों का प्रकाशित करने को विदारणक्रिया

कहते हैं।

(१९) **आज्ञाव्यापादिकीक्रिया-** चारित्रमोह के उदय से शास्त्रोक्त आवश्यकादि क्रियाओं के करने में असमर्थ होने पर उनका अन्यथा निरूपण करने को आज्ञाव्यापादिकीक्रिया कहते हैं।

(२०) **अनाकांक्षाक्रिया-** प्रमाद अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर आगमोक्त क्रियाओं में अनादर करने को अनाकांक्षाक्रिया कहते हैं।

(२१) **आरम्भिकीक्रिया-** छेदन भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होता तथा अन्य को प्रवृत्त देखकर प्रसन्न होने को आरम्भिकीक्रिया कहते हैं।

(२२) **पारिग्रहिकीक्रिया-** परिग्रह की रक्षा में लगे रहने को पारिग्रहिकीक्रिया कहते हैं।

(२३) **मायाक्रिया** - ज्ञान, दर्शन आदि में कपटरूप प्रवृत्ति करने को मायाक्रिया कहते हैं।

(२४) **मिथ्यादर्शनक्रिया-** प्रशंसा आदि से किसी को मिथ्यात्वरूप परिणति में दृढ़ करने को मिथ्यादर्शनक्रिया कहते हैं।

(२५) **अप्रत्याख्यानक्रिया-** चारित्र मोहनीय के उदय से त्याज्य वस्तुओं में त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होने को अप्रत्याख्यानक्रिया कहते हैं।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्रमन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

अर्थ - तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्यविशेष से आस्रव में विशेषता (हीनाधिकता) होती है।

तीव्रभाव - विशेष क्रोधादि कषायों की तीव्रता से जो क्रोधादि भाव होते हैं उसे 'तीव्रभाव' कहते हैं।

मन्दभाव - कषायों की मन्दता से जो भाव होते हैं उसे मन्दभाव कहते हैं।

ज्ञातभाव- बुद्धिपूर्वक हुये भाव को ज्ञातभाव कहते हैं।

अज्ञातभाव- बिना जाने असावधानी से हुये भाव को अज्ञातभाव कहते हैं।

अधिकरण- आस्रव के आधार को 'अधिकरण' कहते हैं।

वीर्य -द्रव्य की शक्तिविशेष को वीर्य कहते हैं।

आस्रव के अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

अर्थ - आस्रव के अधिकरण के दो भेद हैं जीव और अजीव। अर्थात् आस्रव के

आधार जीव और अजीव दोनों हैं।

जीवाधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-विशेषैस्-त्रिस्-त्रिस्-त्रिश्-चतुश्चैकशः ॥८॥

अर्थ - (आद्यम्) आदि का जीवाधिकरण आस्रव (संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग कृत-कारितानुमतकषायविशेषैः) संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा कषायों की विशेषता से (एकशः) प्रत्येक (त्रिः त्रिः त्रिः चतुः) तीन, तीन, तीन, चार भेद से १०८ भेदरूप (अस्ति) है।

विशेषार्थ - संरम्भादि तीनों में तीनों योगों का गुणा करने से ९ भेद हुये। इन ९ भेदों में कृत आदि तीनों से गुणा करने पर २७ भेद हुये। और इन २७ भेदों में चारों कषायों का गुणा करने से जीवाधिकरण आस्रव के कुल १०८ भेद होते हैं।

संरम्भ - हिंसादि पापों के करने का मन में संकल्प करने को संरम्भ कहते हैं।

समारम्भ - हिंसादि पापों के साधन मिलाने को समारम्भ कहते हैं।

आरम्भ - हिंसादि पापों के करने का प्रारम्भ कर देने को आरम्भ कहते हैं।।

कृत - स्वयं करने का कृत कहते हैं।

कारित - दूसरे से कराने को कारित कहते हैं।

अनुमत - दूसरों के द्वारा किये हुये कार्य की सराहना करने को अनुमत/अनुमोदना कहते हैं।

अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा परम् ॥९॥

अर्थ - दो प्रकार की निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग इस तरह अजीवाधिकरण के ११ भेद हैं।

निर्वर्तना - रचना करने को निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं- मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना।

मूलगुण निर्वर्तना- शरीर, मन तथा स्वासोच्छ्वास की रचना मूलगुण निर्वर्तना है।

उत्तरगुण निर्वर्तना- काष्ठ, मिट्टी आदि से चित्र वगैरह की रचना उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेप - वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं-

अप्रत्यवेक्षित-निक्षेपाधिकरण, दु:प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोग-निक्षेपाधिकरण।

अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण- बिना देखे किसी वस्तु के रखने को अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण कहते हैं।

दु:प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण- यत्नाचार रहित होकर असावधानी से वस्तु रखने को दु:प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण कहते हैं।

सहसानिक्षेपाधिकरण- शीघ्रता से वस्तु के रखने को सहसानिक्षेपाधिकरण कहते हैं।

अनाभोगनिक्षेपाधिकरण- किसी वस्तु को योग्य स्थान में न रखकर बिना देखे सोधे स्थान में वस्तु रख देने को अनाभोगनिक्षेपाधिकरण कहते हैं।

संयोग- मिला देने का नाम संयोग है। इसके दो भेद हैं-भक्तपानसंयोग और उपकरणसंयोग है।

भक्तपानसंयोग- आहार पानी को दूसरे आहार पानी में मिलाने को भक्तपान संयोग कहते हैं।

उपकरणसंयोग- कमण्डलू, आदि उपकरणों का दूसरे की पीछी आदि से परिमार्जित करने को उपकरण संयोग कहते हैं।

निसर्ग - प्रवृत्ति को निसर्ग कहते हैं। इसके तीन भेद हैं- कायनिसर्ग, वाङ्निसर्ग और मनोनिसर्ग।

कायनिसर्ग- दुष्टतापूर्वक काय की प्रवृत्ति को कायनिसर्ग कहते हैं।

वाङ्निसर्ग- दुष्टतापूर्वक वचन की प्रवृत्ति को वाङ्निसर्ग कहते हैं।

मनोनिसर्ग- दुष्टतापूर्वक मन की प्रवृत्ति को मनोनिसर्ग कहते हैं।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो: ॥१०॥

अर्थ - क्रम से ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात से क्रमश: ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

प्रदोष - किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा नहीं सुहाना और ईर्ष्या करना प्रदोष है।

निह्नव - जानते हुये भी किसी कारण से ज्ञान को छुपाना निह्नव है।

मात्सर्य - अपने शास्त्रज्ञान होने पर भी दूसरे को इसलिये नहीं बताना कि यदि यह जान लेगा तो मेरे बराबर हो जावेगा इस प्रकार की प्रवृत्ति को मात्सर्य कहते हैं।

अन्तराय - किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालने को अन्तराय कहते हैं।

आसादन - दूसरे के द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले ज्ञान को रोक देने को आसादन कहते हैं।

उपघात - प्रशस्त ज्ञान में दोष लगाने को उपघात कहते हैं।

नोट - यद्यपि आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का बन्ध प्रति समय हुआ करता है तथापि प्रदोषादि भावों के द्वारा जो ज्ञानावरणादि विशेष कर्मों का बन्ध होना बताया है, वह स्थितिबंध और अनुभाग बन्ध की अपेक्षा समझना चाहिये। अर्थात् उस समय प्रकृति और प्रदेश बंध तो सब कर्मों का हुआ करता है, किन्तु स्थिति और अनुभाग बन्ध ज्ञानावरणादि विशेष कर्मों का अधिक होता है।

असातावेदनीय के आस्रव के कारण

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्मपरोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थ - (आत्मपरोभयस्थानि) निज, पर तथा दोनों के विषय में स्थित (दुःख शोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि) दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन (असद्वेद्यस्य) असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

दुःख - पीड़ारूप परिणाम विशेष को दुःख कहते हैं।

शोक - अपने उपकारी का वियोग होने पर मन में विकलता होना शोक है।

ताप - संसार में निन्दा आदि के हो जाने से तीव्र पश्चात्ताप होना ताप है।

आक्रन्दन - पश्चात्ताप से अश्रुताप करते हुये रोना आक्रन्दन है।

वध - किसी की आयु आदि प्राणों का घात करना वध है।

परिदेवन - अत्यन्त दुःखी होकर करुणाजनक रुदन करना परिदेवन है।

नोट - यद्यपि शोक आदि दुःख के ही भेद हैं तथापि दुःख की जातियाँ बतलाने के लिये उन सबका ग्रहण किया है। ऐसे परिणामों से जो स्वयं दुःखी होता है, ओर को दुःखी करता है या दोनों को दुःखी करता है उसके असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण

भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सरागसंयमादि- योगः क्षान्तिः शौच-मिति सद्-वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थ - भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयम, योग, क्षान्ति और शौच तथा संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप, अर्हद्भक्ति और वैयावृत्ति आदि सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

भूत अनुकम्पा - संसार के समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पा करने को भूत अनुकम्पा कहते हैं।

व्रती अनुकम्पा - समस्त अणुव्रत या महाव्रतधारी पर दया करने को व्रती अनुकम्पा कहते हैं।

दान - निज और पर के हित की भावना से वस्तु के देने को दान कहते हैं।

सरागसंयम - पांच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा न करने को संयम कहते हैं और रागसहित संयम को सरागसंयम कहते हैं। यह संयम छठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक के दिगम्बर मुनिराजों को होता है।

योग - इन सबको मनोयोगपूर्वक अच्छी तरह धारण करना योग कहलाता है।

क्षान्ति - क्रोधादि कषाय के होने पर क्षमाभाव रखने को क्षान्ति/क्षमा कहते हैं।

शौच - लोभ के त्याग करने को शौच कहते हैं।

संयमासंयम - सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रतों को संयमासंयम कहते हैं।

अकामनिर्जरा - अपनी इच्छा नहीं होने पर भी परवश कष्ट सहने को अकामनिर्जरा कहते हैं।

बालतप - मिथ्यादर्शन सहित तपस्या करने को बालतप कहते हैं।

नोट - यहाँ 'आदि' शब्द से अकामनिर्जरा और बालतप का 'इति' से अर्हद्भक्ति और मुनिवैयावृत्ति आदि का ग्रहण होता है। सरागसंयम आदि देव आयु के भी आस्रव के कारण हैं। आगे इसी अध्याय के बीसवें सूत्र में कहा जायेगा।

दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अर्थ - केवली, श्रुत (शास्त्र) संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) धर्म

और देव के प्रतिको झूठा दोष लगाने से दर्शन-मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

अवर्णवाद - जिसमें जो दोष नहीं होता उसमें वह दोष लगाना अवर्णवाद कहलाता है।

केवल्यवर्णवाद - केवली ग्रासाहार (मुनि की तरह आहार) करके जीवित रहते हैं, इत्यादि कहना केवली का अवर्णवाद है।

श्रुतावर्णवाद - शास्त्र में मांसभक्षण का विधान है, ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

संघावर्णवाद - साधुओं से ये शूद्र हैं, मलिन हैं, निर्लज्ज हैं, इत्यादि कहना संघ का अवर्णवाद है।

धर्मावर्णवाद - जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुये धर्म में कुछ भी गुण नहीं है, इसके सेवन करने वाले असुर हावेंगे। इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देवावर्णवाद - देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों की बलि से प्रसन्न होते हैं, इत्यादि कहना देव का अवर्णवाद हैं।

चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण

कषायोदयात्तीव्र-परिणामश्चारित्र-मोहस्य ।।१४।।

अर्थ - कषाय के उदय से परिणामों में कलषुता होने से चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

नरक आयु के आस्रव के कारण

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ।।१५।।

अर्थ - बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरक आयु के आस्रव के कारण हैं।

तिर्यञ्च आयु के आस्रव के कारण

माया तैर्यग्योनस्य ।।१६।।

अर्थ - मायाचार तिर्यञ्च आयु के आस्रव का कारण है।

मनुष्य आयु के आस्रव के कारण

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ।।१७।।

अर्थ - थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

मनुष्यायु के आस्रव का कारणान्तर

स्वभाव-मार्दवं च ।।१८।।

अर्थ - स्वभाव से ही परिणामों का कोमल होना भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

नोट - इस सूत्र को पृथक् लिखने का आशय यह है कि इस सूत्र में बताई हुई बातें देवायु के आस्रव में भी कारण हैं।

चारों आयुओं के आस्रव का कारण

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्॥१९॥

अर्थ - सात शीलों और अहिंसादि पांच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं के आस्रव का कारण है।

शील- तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इनको शील कहते हैं।

विशेषार्थ - शील और व्रत का अभाव रहते हुये जब कषायों में क्रमशः अत्यन्त तीव्रता, और अत्यन्त मन्दता होती है तभी वे क्रम से चारों आयुओं के आस्रव के कारण होते हैं।

देव आयु के आस्रव के कारण

सराग-संयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बाल-तपांसि दैवस्य॥२०॥

अर्थ - (सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि) सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप से (देवस्य) देव आयु का आस्रव (जायते) होता है।

देवायु के आस्रव का कारणान्तर

सम्यक्त्वं च॥२१॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन भी देवायु के आस्रव का कारण है।

नोट - (१) इस सूत्र को पृथक् लिखने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्व से वैमानिकों देवों की ही आयु का आस्रव होता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भवनत्रिक में जन्म नहीं लेता। सरागसंयम और संयमासंयम सम्यग्दर्शन के साथ ही होते हैं।

अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः॥२२॥

अर्थ - योगों की कुटिलता और परस्पर में विसंवादन (अन्यथा प्रवृत्ति करना) से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

शुभ नामकर्म के आस्रव का कारण

तद्विपरीतं शुभस्य॥२३॥

अर्थ - योगवक्रता और विसंवादन से विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथाप्रवृत्ति के अभाव से शुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

तीर्थङ्कर नामकर्म के आस्रव के कारण

दर्शनविशुद्धि-विनयसम्पन्नता-शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी-साधुसमाधि-वैयावृत्यकरण-मर्हदाचार्य-बहु-श्रुत-प्रवचन-भक्तिरावश्यका-परिहाणि-मार्गप्रभावना-प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।।२४।।

अर्थ-दर्शनविशुद्धि,विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि,मार्गप्रभावना, और प्रवचनवत्सलत्व ये सोलह भावनायें तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव में कारण हैं।

दर्शनविशुद्धि - २५ दोषों से रहित और आठ अंगो से सहित सम्यग्दर्शन का होना।

विनय-सम्पन्नता - गुणों का, गुरुओं का और गुणगुरुओं का आदर सत्कार करना।

शीलव्रतेष्वनतिचार - सात शीलों और पांच व्रतों को अतिचार (दोष) रहित पालन करना।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग -निरन्तर ज्ञानाभ्यास में प्रवृत्त रहना।

संवेग - संसार के दु:खों से भयभीत रहना।

शक्तितस्त्याग - शक्ति के अनुसार त्याग करना अथवा यथाशक्ति दान देना।

शक्तितस्तप - यथाशक्ति उपवासादि तप करना।

साधुसमाधि - दिगम्बर साधु के तप में उपस्थित विघ्न को दूर कर उनके संयम की रक्षा करना।

वैयावृत्यकरण - दिगम्बर मुनिराज की सेवा सुश्रूषा करना।

अर्हद्भक्ति - अरिहन्त की भक्ति (अनुराग) करना।

आचार्यभक्ति - आचार्य की भक्ति करना।

बहुश्रुतभक्ति-उपाध्याय की भक्ति करना।

प्रवचनभक्ति - जिनवाणी की भक्ति करना।

आवश्यकापरिहाणि - छह आवश्यकों में हानि (त्रुटि) न होने देना।

मार्गप्रभावना -जैनशासन के प्रभाव का प्रकाश करना।

प्रवचनवत्सलत्व - गोवत्स की तरह सहधर्मियों से स्नेह करना।

ये सोलह भावनायें तीर्थङ्कर नामकर्म के आस्रव में कारण हैं। इन सबका अथवा इनमें से कुछ का पालन करने से तीर्थङ्कर प्रकृति का आस्रव होता है। किन्तु इनमें एक 'दर्शनविशुद्धि' का होना आवश्यक है। क्योंकि इसके न होने पर सबके अथवा कुछ के होने पर भी तीर्थङ्कर प्रकृति का आस्रव नहीं होता और दर्शनविशुद्धि के होने पर अन्य भावनाओं के अभाव में भी तीर्थङ्कर प्रकृति का आस्रव होता है। इस प्रकृति के उदय से समवसरण में अष्टप्रातिहार्यरूप विभूति प्राप्त होती है।

नीचगोत्र के आस्रव के कारण

परात्मनिन्दाप्रशंसे-सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

अर्थ - (परात्मनिंदाप्रशंसे) दूसरे की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, (च) तथा (सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने) दूसरे के मौजूद गुणों को छिपाने और अपने अप्रकट गुणों को प्रकट करने से नीचगोत्र कर्म का आस्रव होता।

उच्चगोत्र कर्म के आस्रव के कारण

तद्विपर्ययो नीचै र्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

अर्थ - (तद्विपर्यय:) नीचगोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् पर प्रशंसा, आत्मनिन्दा (च) और (नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ) नम्रवृत्ति तथा मद का अभाव ये (उत्तरस्य) दूसरे उच्चगोत्र कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

अर्थ - पर के दान, लाभ, भोग, उपभोग,तथा वीर्य में विघ्न करना अन्तरायकर्म के आस्रव का कारण है।

दान देने में विघ्न करने से दानान्तरायका आस्रव होता है। इसी प्रकार शेष में भी जानना चाहिये।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) षष्ठोऽध्याय: ॥६॥

सप्तम अध्याय

शुभास्रव का वर्णन

व्रत का लक्षण

हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरति-र्व्रतम् ॥१॥

अर्थ - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं।

व्रत के भेद

देश-सर्वतोऽणु-महती ॥२॥

अर्थ - व्रत के दो भेद हैं - अणुव्रत और महाव्रत।

अणुव्रत- हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करने को अणुव्रत कहते हैं।

महाव्रत- पांचों पापों का सर्वदेश त्याग करने को महाव्रत कहते हैं।

व्रतों की स्थिरता के कारण

तत्स्थैर्यार्थं भावना: पञ्च पञ्च ॥३॥

अर्थ - उन व्रतों की स्थिरता के लिये प्रत्येक व्रत की पांच पांच भावनाएँ हैं।

भावना- किसी वस्तु का बार बार चिन्तवन करने को भावना कहते हैं।

अहिंसाणुव्रत की पांच भावनायें

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥

अर्थ - वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये पांच अहिंसाणुव्रत की भावनाएँ हैं।

वाग्गुप्ति- वचन की प्रवृत्ति का रोकना।

मनोगुप्ति - मन की प्रवृत्ति का रोकना।

ईर्यासमिति - चलते समय आगे की चार हाथ जमीन देखने का लक्ष्य रखना।

आदाननिक्षेपणसमिति - वस्तु को रखते उठाते समय जीवरक्षा का ध्यान रखना।

आलोकितपानभोजन - भोजन पान ग्रहण करते समय देखने और शोधने का ध्यान रखना। तथा दिन के प्रकाश में भोजन करना।

सत्यव्रत की पाँच भावनायें

क्रोधलोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि-भाषणं च पञ्च ॥५॥

अर्थ - क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान,भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण ये पांच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।

क्रोधप्रत्याख्यान- क्रोध का त्याग करना।

लोभप्रत्याख्यान - लोभ का त्याग करना।

भीरुत्वप्रत्याख्यान - भय का त्याग करना।

हास्यप्रत्याख्यान - हास्य का त्याग करना।

अनुवीचिभाषण - शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलता।

विशेषार्थ -क्रोध, लालच, भय और हँसी से मनुष्य झूठ बोल सकता है, इसलिये इनसे बचते रहना चाहिये। जब बोले तब ऐसी सावधानी से बोलना चाहिये कि कोई ऐसी बात नहीं निकल जाये जो दूसरे को कष्टकर हो।

अचौर्यव्रत की पाँच भावनायें

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्मा-विसंवादा: पञ्च ॥६॥

अर्थ - शून्यागारवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पांच अचौर्यव्रत हैं।

शून्यागारवास- पर्वत की गुफा, वृक्ष की पोल आदि निर्जन स्थानों में रहना।

विमोचितावास - दूसरों के द्वारा छोड़े गये ऊजड़ स्थान में निवास करना।

परोपरोधाकरण - जहाँ आप ठहरे हैं वहाँ दूसरों को ठहरने से नहीं रोकना।

भैक्ष्यशुद्धि - चरणानुयोग शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना।

सधर्माविसंवाद - सहधर्मी भाइयों से 'यह हमारा है, यह आपका है' इत्यादि कलह नहीं करना।

ब्रह्मवर्य व्रत की भावनायें

स्त्री-राग-कथाश्रवण-तन्मनो-हरांग निरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागा: पञ्च ॥७॥

अर्थ - स्त्रीरागकथाश्रवण त्याग, तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग, पूर्वरतानुस्मरण त्याग, वृष्येष्टरस त्याग और स्वशरीर संस्कार त्याग ये पांच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ हैं।

स्त्रीरागकथाश्रवण त्याग- स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग करना।

तन्मनोहराङ्ग निरीक्षणत्याग - स्त्री के सुन्दर अङ्गोपाङ्गों के देखने का त्याग करना।

पूर्वरतानुस्मरणत्याग- अव्रत अवस्था में भोगें हुये विषयों के स्मरण का त्याग करना।

वृष्येष्टरसत्याग - कामवर्धक, गरिष्ट रसों का त्याग करना।

स्वशरीरसंस्कारत्याग - अपने शरीर के कामोद्दीपक संस्कारों का त्याग करना।

परिग्रहत्याग की भावनायें

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च॥८॥

अर्थ - पांचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना। ये पांच परिग्रहत्याग व्रत की भावनाएँ हैं।

हिंसादि पापों से विरक्त होने की भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्य-दर्शनम्॥९॥

अर्थ - (हिंसादिषु) हिंसादि पांच पापों के होने पर (इह) इस लोक में तथा (अमुत्र) परलोक में (अपायावद्यदर्शनम्) सांसारिक और पारमार्थिक-प्रयोजनों का बिगाड़ तथा निन्दा की प्राप्ति (जायते) होती है।

विशेषार्थ - हिंसादि पाप करने से इस लोक तथा परलोक में अनेक आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं और निन्दा भी होती है। इसलिये इनको छोड़ना ही अच्छा है।

पापों से विरक्त होने की भावना

दुःखमेव वा॥१०॥

अर्थ - अथवा हिंसादिक पांच पाप दुःखरूप ही हैं ऐसा विचार करना चाहिये।

नोट - यहाँ कारण में कार्य का उपचार है, क्योंकि हिंसादि तो दुःख के कारण हैं। परन्तु यहाँ उन्हें कार्य (दुःख) रूप बतलाया है।

व्रतधारी सम्यग्दृष्टि की भावनायें

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्य मानाविनयेषु॥११॥

अर्थ - (च) और (सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु) सत्त्व, गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनय जीवों में क्रम से (मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि) मैत्री, हर्ष, करुणा और माध्यस्थ्य भावना भाना चाहिये। इनके भाने से अहिंसाव्रत दृढ़ होता है।

विशेषार्थ - संसार के समस्त जीवों पर मैत्रीभाव, अधिक गुणवाले जीवों पर

प्रमोदभाव, क्लिश्यमान जीवों पर कारुण्यभाव और अविनयी जीवों पर माध्यस्थ्यभाव होना चाहिये।

मैत्री - दूसरों को दु:ख न हो ऐसे अभिप्राय को मैत्री भावना कहते हैं।

प्रमोद - अधिक गुण वालों को देखकर प्रसन्नता आदि से प्रकट होने वाली अन्तरङ्ग की भक्ति को प्रमोद कहते हैं।

कारुण्य - दु:खी जीवों के प्रति उपकार करने के भाव को कारुण्यभाव कहते हैं।

माध्यस्थ्य - जो जीव तत्त्वार्थश्रद्धान से रहित हैं तथा हित का उपदेश देने से उलटे चिढ़ते हैं उनमें रागद्वेष का अभाव होने को माध्यस्थ्यभाव कहते हैं।

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

जगत्काय- स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्॥१२॥

अर्थ - (संवेग) संसार से भय और (वैराग्य) रागद्वेष के अभाव के लिये क्रम से सार और शरीर के स्वभाव का चिन्तवन करना चाहिये।

विशेषार्थ - संसार के स्वभाव के बारे में चिन्तवन करने से संवेग और शरीर के स्वभाव के बारे में चिन्तवन करने से वैराग्य उत्पन्न होता है।

हिंसापाप का लक्षण

प्रमत्त-योगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा॥१३॥

अर्थ - (प्रमत्तयोगात्) प्रमाद के योग (अयत्नाचार या प्रमादी के मन वचन, कार्य की प्रवृत्ति) से यथासम्भव (प्राणव्यपरोपणम्) द्रव्यप्राण या भावप्राण का वियोग करना (हिंसा) हिंसा कहलाती है।

विशेषार्थ - (१) जिस समय कोई व्रती जीव ईर्यासमिति से गमन करता है, उस समय कोई क्षुद्र जीव अचानक यदि उसके पैर के नीचे आकर दबकर मर जावे तो वह व्रती उसकी हिंसा का भागी नहीं होता, क्योंकि उसके प्रमाद नहीं है।

(२) एक प्राणी किसी प्राणी को मारना चाहता था। पर मौका न मिलने से मार नहीं सका, तो भी वह हिंसा का भागी होगा, क्योंकि वह प्रमाद सहित है और उसके अपने भावप्राणों की हिंसा होती है। प्रमाद का अर्थ आत्मस्वरूप की असावधानी भी है।

असत्यपाप का लक्षण

असदभिधानमनृतम्॥१४॥

अर्थ - प्रमाद के योग से जीवों को दु:खदायक वा मिथ्यारूप वचन बोलने को असत्य कहते हैं।

चोरीपाप का लक्षण

अदत्ता-दानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थ - (अदत्तादानम्) प्रमाद के योग से बिना दी हुई किसी वस्तु के ग्रहण करने को (स्तेयम्) चोरी कहते हैं।

कुशीलपाप का लक्षण

मैथुन-मब्रह्म ॥१६॥

अर्थ - मैथुन को अब्रह्म अर्थात् कुशील पाप कहते हैं।

मैथुन - चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर राग-भाव से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष का जोड़ा रतिसुख के लिये जो चेष्टा करता है उसे मैथुन कहते हैं।

परिग्रहपाप का लक्षण

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

अर्थ - मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

मूर्च्छा - बाह्य धन, धान्यादि तथा अन्तरङ्ग क्रोधादि कषायों में ये मेरे हैं ऐसा भाव मूर्च्छा है और मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

व्रती का लक्षण

निःशल्यो-व्रती ॥१८॥

अर्थ - शल्यरहित जीव ही व्रती कहलाता है। जब तक एक भी शल्य रहती है तब तक जीव व्रती नहीं हो सकता।

शल्य - जो आत्मा को कांटे की तरह दुःख देता है उसे शल्य कहते हैं।शल्य के तीन भेद हैं - मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य।

मायाशल्य- छल कपट करना।

मिथ्यात्वशल्य - तत्त्वश्रद्धा का अभाव।

निदानशल्य - आगामी काल में इष्ट विषयों की वांछा।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अर्थ - व्रती के दो भेद हैं - (अगारी) गृहस्थ श्रावक और (अनगारी) गृहत्यागी साधु।

अगारी का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ।।२०।।

अर्थ - (अणु व्रत:) अणु अर्थात् एकदेश व्रत पालने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अगारी (सागार) कहलाता है।

अणुव्रत के पांच भेद हैं - अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

अहिंसाणुव्रत - संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करने को अहिंसाणुव्रत कहते हैं।

सत्याणुव्रत - राग, द्वेष, मोह, भय आदि के वश हो स्थूल असत्य बोलने का त्याग करने को सत्याणुव्रत कहते हैं।

अचौर्याणुव्रत - स्थूल चोरी का त्याग करने को अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत - परस्त्री के सेवन का त्याग करने को ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत - आवश्यक धन धान्यादि परिग्रह का परिमाण कर शेष का त्याग करने को परिग्रह-परिमाणाणुव्रत कहते हैं।

अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत

दिग्देशानर्थदण्ड-विरति-सामायिक-प्रोषधोप-वासोप-भोग-परिभोग-परिमाणातिथि-संविभाग-व्रत-सम्पन्नश्च ।।२१।।

अर्थ - व्रती दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इन चार शिक्षाव्रतों से सहित होता है। अर्थात् व्रती श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रतों का धारी होता है।

दिग्व्रत - सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये दशों दिशाओं में आने जाने का परिमाण कर आजीवन उससे बाहर नहीं जाने को दिग्व्रत कहते हैं।

देशव्रत - जीवनपर्यन्त के लिये किये हुये दिग्व्रत में और भी संकोच करके घड़ी, घण्टा, दिन, महिना आदि एक किसी गृह मुहल्ले आदि तक आने जाने की मर्यादा रखने को देशव्रत कहते हैं।

अनर्थदण्डव्रत - प्रयोजनरहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करने को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। इसके पांच भेद हैं - पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दु:श्रुति, प्रमादचर्या

(१) **पापोपदेश** - हिंसा वा आरम्भ आदि पापों के कर्मों का उपदेश देना।

(२) **हिंसादान** - तलवार आदि हिंसा उपकरण मांगने पर देना।

(३) **अपध्यान** - दूसरे का बुरा विचारना।

(४) **दु:श्रुति** - रागद्वेष को बढ़ाने वाले, खोटे शास्त्रों का सुनना।

(५) **प्रमादचर्या** - बिना प्रयोजन यहाँ वहाँ घूमना तथा पृथ्वी आदि खोदना।

चार शिक्षाव्रत

सामायिक - समस्त पाप के कामों से विरत होकर नियत स्थान पर नियत समय के लिये मन वचन काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं।

प्रोषधोपवास - पहले और बाद के दिनों में एकाशन के साथ अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास आदि करना प्रोषधोपवास है।

परिभोग - जो बार बार भोगने योग्य वस्तु होती है उसे परिभोग कहते हैं। उपभोग - जो एक बार भोगने योग्य वस्तु होती है उसे उपभोग कहते हैं। परिभोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण कर उससे अधिक में ममत्व नहीं करने को उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत कहते हैं।

अतिथि - संयमी/व्रती जनों की आने जाने की तिथि यानि तारीख निश्चित् नहीं होती है उन्हें अतिथि कहते हैं।

अतिथिसंविभागव्रत - अतिथि अर्थात् मुनियों के लिये आहार, कमण्डलू पीछी, वसतिका आदि का दान देने को अतिथिसंविभागव्रत कहते हैं।

व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता॥२२॥

अर्थ - मरणकाल उपस्थित होने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करना चाहिये।

सल्लेखना - इस लोक या परलोक सम्बन्धी किसी प्रयोजन की अपेक्षा बिना शरीर और कषाय का कृश करने को सल्लेखना कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार

शङ्का-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टि-प्रशंसा संस्तवाः सम्यग्दृष्टे-रतीचाराः॥२३॥

अर्थ - शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पांच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

शङ्का- जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुये तत्त्वों में सन्देह करना अथवा सप्तभय करना।

कांक्षा - इस लोक या परलोक में सांसारिक सुखों की चाह करना।

विचिकित्सा - दुःखी दरिद्री जीवों को अथवा रत्नत्रय से पवित्र परन्तु बाह्य में मलिन मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना।

अन्यदृष्टिप्रशंसा - मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान तप आदि को मन से अच्छा समझना।

अन्यदृष्टिसंस्तव - मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान तप आदि की वचन से प्रशंसा करना।

नोट - उपर्युक्त कहे गये और आगे कहे जाने वाले अतिचारों का त्यागकरने वाला ही निर्दोषव्रती हो सकता है।

व्रतों और शीलों के अतिचार की संख्या

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

अर्थ - अहिंसा आदि पांच व्रतों और दिग्व्रत आदि सात शीलों में भी क्रम से पांच-पांच अतिचार होते हैं, जिनका वर्णन आगे के सूत्रों में है।

अहिंसाव्रत के पांच अतिचार

बन्ध-वधच्छेदातिभारारोपणान्न-पाननिरोधाः ॥२५॥

अर्थ - बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपान-निरोध ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

बन्ध - प्राणी को रस्सी या सांकल आदि से बांधना या पिंजरे में बन्ध कर देना।

वध - कोड़ा, बेंत आदि से पीटना।

छेद - नाक, कान आदि अङ्गों का छेदना।

अतिभारारोपण - शक्ति से अधिक भार लादना अथवा शक्ति से बाहर काम लेना।

अन्नपाननिरोध -समय पर खाना पीना नहीं देना।

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासाप-हार-साकारमन्त्र-भेदाः ॥२६॥

अर्थ - मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार व साकारमन्त्र भेद ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

मिथ्योपदेश - झूठा और अहितकर उपदेश देना।

रहोभ्याख्यान - स्त्री और पुरुष की एकान्त में की गई क्रिया का प्रगट करना।

कूटलेखक्रिया - दूसरों को फँसाने के लिये झूठे दस्तावेज आदि लिखना।

न्यासापहार - किसी की धरोहर का अपहरण करना।

साकारमन्त्रभेद - हाथ चलाने आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर प्रकाशित कर देना।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीना-धिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

अर्थ - स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

स्तेन प्रयोग- चोरी के लिये चोर को प्रेरणा करना, कराना या उसका उपाय बताना।

तदाहृतादान - चोर के द्वारा चुराये माल को खरीदना।

विरुद्धराज्यातिक्रम - राजा की आज्ञा के विरुद्ध चलना, प्रवेशकर, आयकर, विक्रयकर आदि नहीं देना।

हीनाधिकमानोन्मान - लेने देने के बांट तराजू वगैरह को घटबढ़ रखना।

प्रतिरूपक व्यवहार - कीमती वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार

परविवाह-करणेत्वरिका-परिगृहीतापरिगृहीतागमना-नङ्गक्रीडा-काम-तीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अर्थ - परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

परविवाहकरण- दूसरे के पुत्र पुत्रियों का विवाह करना, कराना।

परिगृहीतेत्वरिकागमन- पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना जाना, लेन देने रखना। रागभावपूर्वक बातचीत करना इत्यादि।

अपरिगृहीतेत्वरिकागमन - पतिरहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना जाना, लेनदेन आदि का व्यवहार रखना।

अनङ्गक्रीड़ा - काम सेवन के लिये निश्चित अङ्गों को छोड़कर अन्य अङ्गों से कामसेवन करना।

कामतीव्राभिनिवेश - कामसेवन की तीव्र अभिलाषा रखना।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य प्रमाणातिक्रमा: ॥२९॥

अर्थ - क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धनधान्य प्रमाणातिक्रम, दासीदासप्रमाणातिक्रम और कुप्यप्रमाणातिक्रम ये पांच परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं।

क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम- खेत तथा मकान के प्रमाण का उल्लंघन करना।

हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम - चांदी और सोने के प्रमाण का उल्लंघन करना।

धनधान्य प्रमाणातिक्रम - पशु तथा अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना।

दासीदास प्रमाणातिक्रम - नौकर और नौकरानियों के प्रमाण का उल्लंघन करना और कुप्यप्रमाणातिक्रम वस्त्र या वर्तन आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना।

नोट - "कुप्य" शब्द से वस्त्र और बर्तन दोनों का ग्रहण होता है। यद्यपि कुप्य शब्द का अर्थ वस्त्र होता है। परन्तु - कुप्य शब्द ....।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तरा-धानानि ॥३०॥

अर्थ - ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम - परिमित मर्यादा से अधिक ऊँचाई वाले पर्वत आदि पर चढ़ना।

अधोव्यतिक्रम - मर्यादा से अधिक निचाई वाले कुएँ आदि में उतरना।

तिर्यग्व्यतिक्रम - समान स्थान में मर्यादा से अधिक लम्बे जाना।

क्षेत्रवृद्धि - मर्यादित क्षेत्र को बढ़ा लेना।

स्मृत्यन्तराधान - की हुई मर्यादा को भूल जाना।

देशव्रत के अतिचार

अनायन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गल-क्षेपा: ॥३०॥

अर्थ - आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

आनयन - स्वयं अपने मर्यादित क्षेत्र में रहते हुये मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को किसी के द्वारा मंगाना।

प्रेष्य प्रयोग - स्वयं अपने मर्यादित क्षेत्र में रहते हुये मर्यादा के बाहर कार्यवश नौकर आदि को भेजना।

शब्दानुपात - स्वयं अपने मर्यादित क्षेत्र में रहते हुये खांसी आदि के शब्द के द्वारा मर्यादा से बाहर वाले आदमियों को अपना अभिप्राय समझा देना।

रूपानुपात - स्वयं अपने मर्यादित क्षेत्र में रहते हुये मर्यादा से बाहर रहने वाले आदमियों को अपना रूप दिखाकर इशारा करना।

पुद्गलक्षेप - स्वयं अपने मर्यादित क्षेत्र में रहते हुये मर्यादा से बाहर कङ्कर पत्थर फेंककर संकेत करना।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप-भोगपरिभोगा-नर्थक्यानि ॥३२॥

अर्थ - कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं।

कन्दर्प - राग से हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना।

कौत्कुच्य - हास्य और अशिष्ट वचन के साथ शरीर से भी कुचेष्ट करना।

मौखर्य - धृष्टतापूर्वक आवश्यकता से अधिक बकवाद करना।

असमीक्ष्याधिकरण - बिना प्रयोजन मन वचन काय की अधिक प्रवृत्ति करना। उपभोगपरिभोगानर्थक्य-भोग और उपभोग के पदार्थों का जरुरत से अधिक संग्रह करना।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योग-दुष्प्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

अर्थ - कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

कायदुष्प्रणिधान - सामायिक करते समय शरीर को निश्चल नहीं रखना।

वाग्दुष्प्रणिधान- सामायिक के मंत्रादिक को अशुद्ध और जल्दी बोलना।

मनोदुष्प्रणिधान- सामायिक में मन को नहीं लगाना।

अनादर - सामायिक के प्रति उत्साह न होना।

स्मृत्यनुपस्थान - चित्त की चंचलता से पाठ वगैरह भूल जाना।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोप-क्रमणानादर-स्मृत्यनु-पस्थानानि ॥३४॥

अर्थ-अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग- बिना देखी और बिना शोधी हुई जमीन में मलमूत्र वगैरह करना।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान - बिना देखे बिना शोधे हुये पूजन के उपकरण आदि का उठाना।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण- बिना देखे और बिना शोधे हुये वस्त्र चटाई आदि का बिछाना।

अनादर - उपवास के कारण भूख प्यास से व्याकुल होने के कारण आवश्यक धर्मकार्यों में उत्साह न होना।

स्मृत्यनुपस्थान - करने योग्य आवश्यक धर्मकार्यों का भूल जाना।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार

सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहाराः ।।३५।।

अर्थ - सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये पांच भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार हैं।

सचित्ताहार - सचेतन (अंकुरोत्पादन समर्थ हरे फूल फल पत्र वगैरह) खाना।

सवित्तसम्बन्धाहार - सचित्त वस्तु से सम्बन्ध को प्राप्त हुई वस्तु खाना।

सचित्त संमिश्राहार - सचित्त वस्तु से मिश्रित वस्तु का खाना।

अभिषवाहार - अतिगरिष्ट वस्तु का खाना। दुःपक्वाहार-अधपके, अधिक पके अथवा बुरी तरह पके हुए पदार्थ का खाना।

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य्य-कालातिक्रमाः ।।३६।।

अर्थ - सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं।

सचित्तनिक्षेप-सचित्त कमलपत्र आदि में रखा आहार देना।

सचित्तापिधान - सचित्तपत्र आदि में ढका आहार देना।

परव्यपदेश - दूसरे दातार की वस्तु स्वयं दान देना अथवा अपने हाथ की वस्तु दूसरे से दान दिलवाना।

मात्सर्य - दान में आदर का अभाव अथवा दूसरे दाता से ईर्ष्या करना।

कालातिक्रम - योग्य काल का उल्लंघन कर अकाल में देना।

सल्लेखना के अतिचार

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥३७॥

अर्थ - जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच सल्लेखना के अतिचार हैं।

जीविताशंसा - सल्लेखनाधारण करने के बाद अधिक जीने की चाह।

मरणाशंसा - रोगादि की वेदना से व्याकुल होकर शीघ्र मरने की चाह।

मित्रानुराग - मित्रों का स्मरण।

सुखानुबन्ध - पूर्वकाल में भोगे हुए सुखों की याद।

निदान -आगामी काल में भोगों की चाह।

दान में विशेषता

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

अर्थ - (अनुग्रहार्थम्) अपने और पर के उपकार के लिये (स्वस्य) धन आदिक का (अतिसर्गः) देना (दानम्) दान है।

विशेषार्थ - दान देने में अपना उपकार तो यह है कि पुण्य का बन्ध होता है और पर का उपकार यह है कि दान लेने वाले को धर्मसाधन में सहायता मिलती है।

दान में विशेषता

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

अर्थ - विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष से दान में विशेषता होती है।

विधिविशेष - नवधाभक्ति के क्रम को विधिविशेष कहते हैं।

द्रव्यविशेष - तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण आहार की सात्विकता को द्रव्यविशेष कहते हैं।

दातृविशेष - दाता की श्रद्धा आदि सप्तगुण-सहायता को दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेष - पात्र के ज्ञानी, ध्यानी, गुणी और तपस्वी होने को पात्र विशेष कहते हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टम अध्याय

बन्धतत्त्व का वर्णन

बन्ध के कारण

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध-हेतवः ॥१॥

अर्थ - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबन्ध के कारण हैं।

मिथ्यादर्शन - अतत्त्वों के श्रद्धान को अथवा तत्त्वों का श्रद्धान न होने को मिथ्यादर्शन कहते हैं।इसके दो भेद हैं - गृहीतमिथ्यादर्शन और अगृहीतमिथ्यादर्शन।

गृहीतमिथ्यादर्शन - दूसरों के उपदेश से जो अतत्त्वश्रद्धान होता है उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अगृहीतमिथ्यादर्शन - परोपदेश के बिना ही केवल मिथ्यात्वकर्म के उदय से जो मिथ्याश्रद्धान होता है उसे अगृहीतमिथ्यादर्शन कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के ५ भेद और भी हैं - एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान।

एकान्तमिथ्यादर्शन - अनेक धर्मरूप वस्तु का एकधर्मरूप श्रद्धान होने को एकान्तमिथ्यादर्शन कहते हैं। जैसे वस्तु अनित्य ही है या नित्य ही है। सत् ही है या असत् ही है इत्यादि श्रद्धान होना।

विपरीतमिथ्यादर्शन - परिग्रहसहित भी गुरु हो सकते हैं। केवली कवलाहार करते हैं, स्त्री को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है इत्यादि उल्टे श्रद्धान को विपरीतमिथ्यादर्शन कहते हैं।

संशयमिथ्यादर्शन - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं या नहीं ? ऐसी द्विविधा को संशय मिथ्यादर्शन कहते हैं।

वैनयिक मिथ्यादर्शन - सब देवताओं को और सर्वधर्मों को समान मानना।

अज्ञान - हित और अहित के विचार रहित श्रद्धा को अज्ञानमिथ्यादर्शन कहते हैं।

अविरति - छह काय के जीवों की हिंसा के त्याग न करने और पाँचों इन्द्रियों तथा मन को विषयों में जाने से न रोकने को अविरति कहते हैं। इसके पृथ्वीकायिकाविरति, जलकायिकाविरति अग्नि इत्यादि बारह भेद हैं।

प्रमाद - समिति, गुप्ति, शुद्धि और धर्म इत्यादि अच्छे कार्यों में अनुत्साह को प्रमाद कहते हैं। ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, स्नेह और राग ये १५ प्रमाद के भेद हैं।

कषाय - जो आत्मा को कषता या दुःख देता है उसे कषाय कहते हैं। सोलह कषाय और नौ नोकषाय ये पच्चीस कषाय हैं।

योग - मन, वचन, काय के व्यापार को योग कहते हैं। इसके १५ भेद हैं - चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग।

नोट - ये मिथ्यादर्शन आदि सम्पूर्ण तथा पृथक्-पृथक् बन्ध के कारण हैं। अर्थात् किसी के पाँचों ही बन्ध के कारण हैं। किसी के अविरति आदि चार किसी के प्रमाद आदि तीन, किसी के कषाय आदि दो और किसी के केवल एक योग ही बन्ध का कारण हैं।

यथा - प्रथम गुणस्थान में पाँचों बन्ध के कारण हैं। दूसरे गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक के जीवों को मिथ्यात्व को छोड़कर चार बन्ध के कारण है। पंचम गुणस्थान में ग्यारह अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। छठे गुणस्थान में मिथ्यात्व और अविरति को छोड़कर तीन बन्ध के कारण हैं। सप्तम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो बन्ध के कारण हैं। ग्यारहवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योग बन्ध का कारण है। चौदहवें गुणस्थान में बन्ध नहीं होता है।

बन्ध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुदगलानादत्ते स बन्धः ।।२।।

अर्थ - (जीवः) जीव (सकषायत्वात्) कषायवान् होने से (कर्मणः) कर्म के (योग्यान्) योग्य (पुद्गलान्) कार्मण वर्गणारूप पुद्गल स्कन्धों को (आदत्ते) ग्रहण करता है (सः) वह पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण (बन्धः) बन्ध (कथ्यते) कहलाता है।

विशेषार्थ - कार्मणवर्गणारूप पुद्गल सम्पूर्ण लोक में ठसा-ठस भरे हुए हैं। कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ उनका संबंध हो जाता है, वह बन्ध कहलाता है।

नोट - सूत्र में 'कर्मणो योग्यान्' ऐसा समास न करके जो अलग-अलग ग्रहण किया है उससे इस सूत्र का यह अर्थ भी निकलता है कि - "जीव कर्म से सकषाय होता है और सकषाय होने से कर्मरूप पुद्गल को ग्रहण करता है, यही बन्ध कहलाता है।"

बन्ध के भेद

प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः ।।३।।

अर्थ - (तद्) वह बन्ध प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध के (विधयः) भेद से चार प्रकार का है।

प्रकृतिबन्ध - कर्मों में ज्ञानादिक के ढकने का स्वभाव प्रकृतिबन्ध कहलाता है।

स्थितिबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मों का अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थितिबन्ध कहलाता है।

अनुभागबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मों में तीव्र या मन्द आदि फल देने की शक्ति को अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मरूप हुए पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

इनमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग से होते हैं तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं।

प्रश्न - कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जीव के राग-द्वेषादिक परिणामों के निमित्त से कार्मण वर्गणारूप जो पुद्गल स्कन्ध जीव के साथ संबंध को प्राप्त होते हैं, उनको कर्म कहते हैं। अथवा - जो आत्मा का असली स्वभाव प्रकट नहीं होने देता उसे कर्म कहते हैं। जैसे - बहुत सी धूल उड़कर सूर्य के प्रकाश को ढक देती है।

प्रकृतिबन्ध के मूल भेद

आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थ - (अद्यः) पहले प्रकृतिबन्ध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद हैं।

ज्ञानावरण - जिस कर्म के उदय या निमित्त से आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण पड़ता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

दर्शनावरण - जिस कर्म के उदय से आत्मा के दर्शनगुण पर आवरण पड़ता है उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

वेदनीय - जिस कर्म के उदय से सुख-दुःख का अनुभव होता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

मोहनीय - जिसके उदय से जीव स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना समझने लगता है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

आयु - जिस कर्म के उदय से जीव को नरक, तिर्यंच मनुष्य और देव में से किसी एक के शरीर में रुका रहना पड़ता है उसे आयु कर्म कहते हैं।

नाम - जिस कर्म के उदय या निमित्त से शरीर और अंगोपांग आदि की रचना होती है उसे नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न - दर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस कर्म के उदय से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न - दर्शनावरण कर्म को दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार कोई पहरेदार राजा का दर्शन नहीं होने देता है, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शनगुण का दर्शन नहीं होने देता है।

वेदनीय के दो भेद

सदसद्-वेद्ये ॥८॥

अर्थ - (वेद्ये) वेदनीय कर्म के सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो (सद्-असत्) भेद हैं।

सद्वेद्य - जिस कर्म के उदय से शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त होता है उसे सद्वेद्य या साता वेदनीय कहते हैं।

असद्वेद्य - जिस कर्म के उदय से तरह-तरह का दुःख प्राप्त होता है उसे असद्वेद्य या असाता वेदनीय कहते हैं।

प्रश्न - वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस कर्म के उदय से जीव को सुख-दुःख होते हैं और जो अव्याबाध (बाधा का अभाव रूप) गुण का घात करता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

प्रश्न - वेदनीय कर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार शहद लपेटी तलवार की धार चाटने से सुख-दुःख दोनों होते हैं। अर्थात् शहद मीठा लगने से सुख होता है और तलवार द्वारा जिह्वा कट जाने से दुःख होता है, वैसे ही वेदनीय कर्म सुख-दुःख दोनों देता है।

प्रश्न - असातावेदनीय कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कितनी होती है ?

उत्तर - असातावेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है।

प्रश्न - सातावेदनीय कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कितनी होती है ?

उत्तर - सातावेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है।

प्रश्न - वेदनीय कर्म का बन्ध किन गुणस्थानों तक होता है ?

उत्तर - असातावेदनीय कर्म का बन्ध प्रथम गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक

तथा सातावेदनीय कर्म का बन्ध प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है।

मोहनीय कर्म के २८ भेद

दर्शन-चारित्र-मोहनीयाकषाय-कषाय-वेदनीयाख्यास्-त्रि-द्वि-नव-षोडश भेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसक-वेदा अनन्तानु-बन्ध्यप्रत्याख्यान - प्रत्याख्यान - संज्वलन - विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान - माया - लोभाः ॥९॥

अर्थ - मोहनीय कर्म के दो भेद हैं दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं तथा चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं। अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय। अकषायवेदनीय के नौ भेद और कषायवेदनीय के सोलह भेद होते हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण ३ + १६ + ९ = २८ भेद होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद निम्न हैं - मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति।

दर्शनमोहनीय - जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्त्वगुण का घात होता है उसे दर्शनमोहनीय कहते हैं।

मिथ्यात्व-प्रकृति - जिस कर्म के उदय से तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता उसे मिथ्यात्वप्रकृति कहते हैं। सम्यक्त्वप्रकृति जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन में दोष उत्पन्न होता है उसे सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से दही और गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान उभय (सम्यक्त्व और मिथ्यात्व) रूप श्रद्धान होता है उसे **सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृति** कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से आत्मा के चारित्र गुण का घात होता है उसे **चारित्रमोहनीय** कहते हैं। जो आत्मा के गुण, शुभ और शुद्ध भाव, धर्मक्षेत्र या धर्म को कषता (नष्ट करता) है उसे कषायवेदनीय कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। इनमें भी प्रत्येक के क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कषायवेदनीय के (४ x ४ = १६) सोलह भेद होते हैं।

अनन्तानुबन्धी - जिस कषाय के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात होता है।

अप्रत्याख्यानावरण - जिसके उदय से देशचारित्र नहीं हो पाता।

प्रत्याख्यानावरण - जिसके उदय से सकलचारित्र नहीं हो पाता।

संज्वलन - जिसके उदय से यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता।

जिसके उदय से क्रोधादिक की तरह आत्मा के गुणों का घात नहीं होता अथवा जो कषाय के साथ साथ अपना कार्य या फल दिखलाता है उसे **अकषायवेदनीय** कहते हैं।

अकषायवेदनीय के नौ भेद हैं - हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद।

हास्य - जिस कर्म के उदय से अपने को हँसी आती है।

रति - जिस कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषय में राग या प्रेम होता है।

अरति - जिस कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों में अरति या द्वेष होता है।

शोक - जिस कर्म के उदय से शोक या चिन्ता होती है।

भय - जिस कर्म के उदय से भय (डर) या उद्वेग होता।

जुगुप्सा - जिस कर्म के उदय से दूसरे से ग्लानि या घृणा होती है।

स्त्रीवेद - जिस कर्म के उदय से पुरुष से रमने की इच्छा होती है।

पुंवेद - जिस कर्म के उदय से स्त्री से रमने की इच्छा होती है।

नपुंसकवेद - जिस कर्म के उदय से स्त्री पुरुष दोनों में रमने की इच्छा होती है।

नोट - इन कषायों में आगे आगे मन्दता और नीचे नीचे तीव्रता होती है।

प्रश्न - मिथ्यात्व का उदय किस गुण स्थान में होता है ?

उत्तर - मिथ्यात्व का उदय प्रथम गुणस्थान में होता है।

प्रश्न - सम्यक मिथ्यात्व का उदय किस गुण स्थान में होता है ?

उत्तर - सम्यक् मिथ्यात्व का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है।

प्रश्न - सम्यक् प्रकृति का उदय किन गुणस्थानों में होता है ?

उत्तर - सम्यक् का उदय क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न - प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायों का उत्कृष्टा से ठहरने का काल कितना होती है ?

उत्तर - प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायों का उत्कृष्टता से ठहरने का काल पन्द्रह दिन तक हो सकता है।

प्रश्न - संज्वलन क्रोधादि कषायों का उत्कृष्टता से ठहरने का काल कितना होता है ?

उत्तर - संज्वलन क्रोधादि कषायों का उत्कृष्टा से ठहरने का काल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अर्थात् अड़तालीस मिनट तक हो सकता है।

प्रश्न - मोहनीय कर्म का बन्ध किन गुणस्थानों तक होता है ?

उत्तर - मोहनीय कर्म का बन्ध प्रथम गुणस्थान से लेकर नौंवे गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न - मोहनीय कर्म को दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार शराब प्राणी को अपना स्वभाव भुला देती है उसी प्रकार मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित कर देता है। इस कर्म के निमित्त से प्राणी पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना कर इष्ट और अनिष्ट रूप आचरण करने लगता है। क्रोध आदि कषाय मोहनीय कर्म के उदय से ही होते हैं।

आयुकर्म के भेद

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ॥१०॥

अर्थ - नारकायु, तिर्यगायु, मनुषायु और देवायु ये चार आयुकर्म के भेद हैं।

नारकायु - जिस कर्म के उदय से प्राणी नारकी के शरीर में रुक जाता है उसे नारकायु कहते हैं।

तिर्यगायु - जिस कर्म के उदय से प्राणी तिर्यंच के शरीर में रुक जाता है उसे तिर्यगायु कहते हैं।

मनष्यायु - जिस कर्म के उदय से प्राणी मनुष्य के शरीर में रुक जाता है उसे मनुष्यायु कहते हैं।

देवायु - जिस कर्म के उदय से प्राणी देव के शरीर में रुक जाता है उसे देवायु कहते हैं।

प्रश्न - आयु कर्म को दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार सांकल में बंधा हुआ या काठ में फँसाया हुआ मनुष्य उसके न हटने तक दूसरी जगह नहीं जा सकता उसी प्रकार आयुकर्म भी प्राणी को मनुष्य आदि के शरीर में रोके रखता है।

प्रश्न - आयुकर्म का बन्ध किन गुणस्थानों तक होता है ?

उत्तर - आयुकर्म का बन्ध तीसरे गुणस्थान को छोड़कर प्रथम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक होता है।

नामकर्म के भेद

गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघात-परघातातपो-द्योतोच्छ्वास-विहायो गतयः प्रत्येक-शरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

अर्थ - गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति ये इक्कीस तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनके उल्टे साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, स्थूल, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये दश और तीर्थकरत्व इस प्रकार सब मिलाकर नामकर्म के ४२ भेद हैं।

नामकर्म के भेद दो प्रकार से कहे जाते हैं- पिण्डरूप और अपिण्डरूप। पिण्डरूप कथन में नामकर्म के ४२ भेद होते हैं। परन्तु अपिण्डरूप कथन में नामकर्म के ९३ भेद होते हैं।

समूह रूप में कथन करने को पिण्डरूप कहते हैं। जैसे गति कहने से एक भेद लेना। परन्तु गति के भेद करने पर चार होती हैं इसे अपिण्डरूप कहते हैं।

गति आदि के रूपान्तर भेद जोड़ने से नामकर्म के ९३ भेद होते हैं।

गति - जिस कर्म के उदय से प्राणी दूसरे भव या पर्याय को जाता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं - नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति।

नरकगति - जिस कर्म के उदय से प्राणी को नारक पर्याय प्राप्त होती है उसे नरकगति कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना -

जाति - जिस कर्म के उदय से अनेक प्राणियों में अविरोधी समान अवस्था प्राप्त होती है उसे जाति नामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं -एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पञ्चेन्द्रिय जाति।

एकेन्द्रिय जाति - जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति में पैदा होता है उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

शरीर - जिस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर की रचना होती है उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण।

औदारिक नामकर्म - जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर की रचना होती है उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

अङ्गोपाङ्ग - जिस कर्म के उदय से अङ्गों और उपाङ्गों की रचना होती है उसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं - औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग और आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग।

औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग - जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के अङ्गों और उपाङ्गों की रचना होती है उसे औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग कहते हैं। उसी प्रकार शेष दो भेदों के लक्षण जानना।

निर्माण - जिस कर्म के उदय से अङ्गोपाङ्ग की यथास्थान और यथाप्रमाण रचना होती है उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

बन्धन नामकर्म - शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गल स्कन्धों का परस्पर मिलन जिस कर्म के उदय से होता है उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - औदारिक बन्धन, वैक्रियिक बन्धन, आहारक बन्धन, तैजसबन्धन और कार्मण बन्धन।

औदारिक बन्धन- जिसके उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवाल में लगे ईंटों और गारे की तरह छिद्र रहित परस्पर संबंध को प्राप्त होते हैं वह औदारिक बन्धन नामकर्म है। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

संघातनामकर्म - जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर छिद्र रहित एकमेकपन होता है उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके भी पाँच भेद हैं - औदारिक संघात आदि।

संस्थाननामकर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार बनता है उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं - समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामनसंस्थान और हुण्डकसंस्थान।

समचतुरस्रसंस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार ऊपर नीचे तथा बीच में समान विभाग से सांचे में ढला जैसा होता हे उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार वटवृक्ष की तरह नाभि के नीचे पतला और ऊपर मोटा होता है उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं।

स्वातिसंस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार सर्प की बामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा होता है उसे स्वातिसंस्थान कहते हैं।

कुब्जक संस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर के बीच के भाग में बहुत पुद्गलों का समूह इकट्ठा होता है अर्थात् पीठ कुछ उठी रहती है उसे कुब्जकसंस्थान कहते हैं।

वामनसंस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर बौना रहता है उसे वामनसंस्थान कहते हैं।

हुण्डकसंस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपाङ्ग किसी खास आकार के नहीं होते, बेडौल होते हैं उसे हुण्डकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

संहनन नामकर्म - जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बंधनों में विशेषता होती है उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं - वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलितसंहनन और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

वज्रवृषभनाराचसंहनन- जिस कर्म के उदय से वृषभ (वेष्ठन) नाराच (कील) और संहनन (हड्डियाँ) वज्र के समान अभेद्य होते हैं उसे वज्रवृषभनाराचसंहनन कहते हैं।

वज्रनाराचसंहनन- जिस कर्म के उदय से कीलें वा हाड़ तो वज्र के समान होते हैं परन्तु वेष्ठन वज्र के समान नहीं होते उसे वज्रनाराच संहनन कर्म कहते हैं।

नाराचसंहनन- जिस कर्म के उदय से सामान्य वेष्ठन और कीली सहित हाड़ होते हैं उसे नाराचसंहनन कहते हैं।

अर्धनाराच संहनन- जिस कर्म के उदय से हड्डियों की संधियाँ अर्धकीलित होती हैं उसे अर्धनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं।

कीलित संहनन- जिस कर्म के उदय से हड्डियाँ परस्पर कीलित होती है उसे कीलित संहनन कहते हैं।

असंप्राप्तासृपाटिका संहनन- जिस कर्म के उदय से जुदी जुदी हड्डियों नसों से बंधी होती है परस्पर में कीलित नहीं होती उसे असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म कहते हैं।

स्पर्श - जिस कर्म के उदय से शरीर में स्पर्श होता है उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं। कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष।

रस - जिस कर्म के उदय से शरीर में रस होता है उसे रसनामकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं - तिक्त (चरपरा), कटुक (कड़वा), कषाय (कषायला), आम्ल (खट्टा) और मधुर मीठा।

गन्ध - जिस कर्म केउदय से शरीर में गन्ध प्रकट होती है उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं - सुगंध और दुर्गन्ध।

वर्ण - जिस् कर्म के उदय से शरीर में वर्ण (रूप) होता हे उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - नील, शुक्ल, कृष्ण, रक्त और पीत।

आनुपूर्व्य - जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में मरण से पहले के शरीर के

आकार आत्मा के प्रदेश रहते हैं उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं - नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य।

नरकगत्यानुपूर्व्य -जिस समय मनुष्य या तिर्यंच मरकर नरकगति की ओर जाता है उसके आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था। जिसे वह छोड़कर आया है उस आकार को नरकगत्यानुपूर्व्य कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

अगुरुलघु नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक की रुई की तरह हल्का नहीं होता उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

उपघात - जिस कर्म के उदय से अपने ही घातक अङ्गोपाङ्ग होते हैं उसे उपघात नामकर्म कहते हैं।

परघात - जिस कर्म के उदय से दूसरे के घातक अङ्गोपाङ्ग होते हैं उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

आतप - जिस कर्म के उदय से आतपकारी शरीर होता है उसे आतप नामकर्म कहते हैं। इसका उदय सूर्य के विमानों में होता है।

उद्योत - जिस कर्म के उदय से उद्योतरूप शरीर होता है उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं। इसका उदय चन्द्रमा के विमान में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के तथा खद्योत (जुगनू) आदि जीवों के होता है।

उच्छ्वास - जिस कर्म के उदय से शरीर में उच्छ्वास होता है उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

विहायोगति - जिस कर्म के उदय से आकाश में गमन होता है उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं - प्रशास्तविहायोगति और अप्रशास्तविहायोगति।

प्रत्येक शरीर - जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी होता है उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं।

साधारण शरीर - जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी होते हैं उसे साधारण शरीर नामकर्म कहते हैं।

त्रस - जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रिय आदि जीवों में जन्म होता है उसे त्रस-नामकर्म कहते हैं।

स्थावर - जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों में जन्म होता है उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

सुभग - जिस कर्म के उदय से दूसरे जीवों को अपने से प्रीति होती है उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

दुर्भग - जिस कर्म के उदय से रूपादिगुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अपने से प्रीति नहीं होती उसे दुर्भगनामकर्म कहते हैं।

सुस्वर - जिस कर्म के उदय से सुरीला स्वर होता हे उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

दु:स्वर - जिस कर्म के उदय से खराब स्वर होता है उसे दु:स्वर नामकर्म कहते हैं।

शुभ - जिस कर्म के उदय से मस्तक आदि अवयव सुन्दर मालूम होते हैं उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

अशुभ - जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव देखने में मनोहर नहीं मालुम होते उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म - जिस कर्म के उदय से दूसरों को नहीं रोकने वाला और दूसरों से नहीं रुकने वाला शरीर प्राप्त होता है उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते हैं।

बादर (स्थूल) - जिस कर्म के उदय से दूसरे को रोकने वाला तथा दूसरे से रुकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त होता है उसे बादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

पर्याप्ति - जिस कर्म के उदय से अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होती है उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

अपर्याप्ति - जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उसे अपर्याप्ति कहते हैं।

स्थिर - जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुयें (रस, रुधिर, मांस, मेदा, हाड़, मज्जा और शुक्र) तथा उपधातुयें (बात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होती हैं उसे स्थिर कर्म कहते हैं।

अस्थिर - जिस कर्म के उदय से शरीर की धातु तथा उपधातुयें अपने स्थान में स्थिर नहीं रहती उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

आदेय - जिस कर्म के उदय से शरीर में प्रभा होती है उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

अनादेय - जिस कर्म के उदय से शरीर में प्रभा नहीं होती है उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

यश:कीर्ति - जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की प्रशंसा होती है उसे यश:कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

अयश:कीर्ति - जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की निन्दा होती है उसे अयश:कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

तीर्थकरत्व - जिस कर्म के उदय से तीर्थकरपद की प्राप्ति होती है उसे तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न - नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो कर्म प्राणियों को तरह तरह के शरीर अंगोपांग, आकार और रूप-रूपांतर स्वरूप परिणमाता (करता या बदलता) है उसे नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न - नामकर्म को दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार कोई चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है कभी मनुष्य का, कभी बैल का, किसी का हाथ लम्बा आदि। उसी प्रकार नामकर्म इस प्राणी को कभी मनुष्य कभी घोड़ा, कभी कुबड़ा, कभी गोरा आदि अनेक रूप परिणमाता है। हमारे आँख, कान, शरीर आदि सब नामकर्म के उदय से ही बने हैं।

गोत्रकर्म के भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ - गोत्रकर्म के दो भेद - उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

विशेषार्थ- जिस कर्म के उदय से प्राणी ऊँच या नीच कुल को प्राप्त होता है उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

उच्च गोत्र - जिस कर्म के उदय से प्राणी का लोकमान्य उच्च कुल में जन्म होता है उसे उच्च गोत्र कर्म कहते हैं।

नीच गोत्र - जिस कर्म के उदय से प्राणी का लोकनिन्द्य (नीच कुल) में जन्म होता है उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।

प्रश्न - गोत्र कर्म का बन्ध किन गुणस्थानों तक होता है ?

उत्तर - नीच गोत्र कर्म का बन्ध प्रथम गुणस्थान और द्वितीय गुणस्थान में होता है तथा उच्च गोत्र कर्म का बन्ध प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न - नीच गोत्र कर्म का उदय किन गुणस्थानों तक होता है ?

उत्तर - नीच गोत्र कर्म का उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न - गोत्र कर्म को दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार कुम्हार छोटे या बड़े बर्तन बनाता है उसी प्रकार गोत्र कर्म इस जीव

को ऊँच या नीच कुल (गोत्र, घराना) प्राप्त कराता है।

अन्तरायकर्म के भेद

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ - अन्तरायकर्म के ५ भेद हैं - दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

दानान्तरायकर्म -जिस कर्म के उदय से दान की इच्छा रखता हुआ भी प्राणी दान नहीं कर सकता है उसे दानान्तरायकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के भी लक्षण समझना चाहिए।

प्रश्न - अन्तराय कर्म को दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार किसी सेठ ने एक पाठशाला को दस हजार रुपया देने की आज्ञा दी, किन्तु मुनीम कुछ गड़बड़ करके वह रुपया न देकर विघ्न डाल देता है उसी प्रकार अन्तराय कर्म अच्छे कार्यों में विघ्न किया करता है।

स्थिति बन्ध का वर्णन

आदितस्-तिसृणा-मन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटी-कोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

अर्थ - आदि के तीन-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर है। इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के ही होता है।

कोड़ा-कोड़ी - एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो गुणनफल आता है उसे कोड़ा-कोड़ी कहते हैं।

सागर - दस कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्यों का एक सागर होता है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्तति-र्मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थ - मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर हैं।

मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमाहनीय आदि अट्ठाईस भेद पूर्व में किये हैं। उनकी ही क्रमशः उत्कृष्ट आदि स्थिति बतलाते हैं।

प्रश्न - दर्शनमोहनीय कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कितनी होती है ?

उत्तर - दर्शनमोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है।

प्रश्न - अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषायों का उत्कृष्टता से ठहरने का काल कितना होता है ?

उत्तर - अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषायों का उत्कृष्टता से ठहरने का काल संख्यातभव, असंख्यातभव तथा अनन्तभव तक हो सकता है।

प्रश्न - क्रोधादि कषायों का जघन्य स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर - क्रोध कषाय का जघन्य स्थित बन्ध दो महीने, मान का एक महीने, माया का पन्द्रह दिन तथा लोभ का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति बन्ध होता है।

प्रश्न - चारित्रमोहनीय कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कितनी होती है ?

उत्तर - चारित्रमोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

विंशति-र्नाम-गोत्रयोः ॥१६॥

अर्थ - नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है।

प्रश्न - गोत्र कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर - नीच गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की और उत्कृष्ट बीस कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है। उच्च गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की और उत्कृष्ट दस कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है।

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्-त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अर्थ - आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है।

प्रश्न - आयुकर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कितनी होती है ?

उत्तर - देवायु और नरक आयु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर की होती है। मनुष्य और तिर्यगायु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की होती है।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थ - वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति

नाम-गोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

अर्थ - नाम वा गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है।

शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता: ॥२०॥

अर्थ - शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

अनुभाग बन्ध का लक्षण

विपाकोऽनुभव: ॥२१॥

अर्थ - विशेष नाना प्रकार के पाक (उदय) को विपाक कहते हैं। और इस विपाक को ही अनुभव (अनुभाग) बन्ध कहते हैं।

नोट - शुभ परिणामों की अधिकता होने पर शुभ प्रकृतियों में अधिक और अशुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है तथा अशुभ परिणामों की अधिकता होने पर अशुभ प्रकृतियों में अधिक और शुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है।

अनुभाग बन्ध कर्म के नामानुसार होता है

स यथानाम ॥२२॥

अर्थ - वह अनुभाग बन्ध कर्मों के नामानुसार ही होता है।

विशेषार्थ - जिस कर्म का जैसा नाम है उसमें वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है। जैसे ज्ञानावरण कर्म में ज्ञान को रोकना और दर्शनावरण कर्म में दर्शन को रोकना आदि।

फल दे चुकने के बाद कर्म की निर्जरा

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थ - तीव्र, मन्द या मध्यम फल दे चुकने के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है अर्थात् कर्म उदय में आकर आत्मा से पृथक् हो जाता है।

विशेषार्थ - निर्जरा के दो भेद हैं। सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाकनिर्जरा- फल देकर स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से कर्म के पृथक् होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं।

अविपाक निर्जरा - उदयकाल प्राप्त न होने पर भी तप आदि उपायों से कर्मों के खिपा देने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

प्रदेश बन्ध का लक्षण

नाम - प्रत्यया: सर्वतो योग-विशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिता: सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशा: ॥२४॥

अर्थ - (नामप्रत्यया:) ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारण (सर्वत:) सब ओर से अथवा देव नारकादि समस्त भवों से (योग विशेषात्) मन, वच, काय, रूप योग विशेष से (सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता:) सूक्ष्म तथा एकक्षेत्रावगाहरूप से स्थित (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में (अनन्तानन्तप्रदेशा:) जो कर्म रूप पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश हैं उनको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

नोट - इस सूत्र में प्रदेश बन्ध के विषय में होने वाले निम्न छह प्रश्नों का समाधान किया गया है। (१) किसमें कारण है ? (२) किस समय होता है ? (३) किस कारण से होता है ? (४) किस स्वभाव वाला होता है ? (५) किस में होता है ? और (६) कितनी संख्या होती है ?

विशेषार्थ - आत्मा के योग विशेषों द्वारा त्रिकाल में बँधने वाले, ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारणभूत, आत्मा के प्रदेशों में व्याप्त होकर कर्म रूप परिणमने योग्य सूक्ष्म, आत्मा के प्रदेशों में दूध-पानी की तरह एक होकर स्थित रहने वाले तथा अनन्तानन्त प्रदेशों का प्रमाण लिये प्रदेशबन्ध रूप पुद्गलस्कन्धों को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ

सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

अर्थ - सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ - सातावेदनीय, तिर्यगायु मनुष्यायु और देवायु, नाम कर्म की प्रकृतियाँ पुण्य रूप है। शेष ६८ प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं।

पाप प्रकृतियाँ

अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

अर्थ - इनसे भिन्न अर्थात् असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभनाम और अशुभ गोत्र ये पाप प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ - घातिया कर्मों की समस्त ४७ प्रकृतियाँ पाप रूप हैं तथा नामकर्म की ५० प्रकृतियाँ पाप रूप है इस प्रकार १०० प्रकृतियाँ पाप रूप हैं। यथा -

नोट - स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की बीस प्रकृतियाँ पुण्य और पाप दोनों रूप होती हैं अत: पुण्य और पाप प्रकृतियाँ १६८ हो जाती हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) अष्टमोऽध्याय: ॥६॥

नवम अध्याय

संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन

संवर का लक्षण

आस्रव-निरोधः संवरः ॥१॥

अर्थ - आस्रव का रुकना संवर है। अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता था उन कारणों को दूर कर देने से जो कर्मों का आना बंद हो जाता है उसे संवर कहते हैं।

संवर के दो भेद हैं। द्रव्यसंवर (पुद्‌गलमय कर्मों के आस्रव का रुकना) और भावसंवर (कर्मास्रव के कारणभूत भावों का रुकना)।

संवर के कारण

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः ॥२॥

अर्थ - वह संवर तीन गुप्ति, पांच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पांच चारित्र से होता है।

गुप्ति - संसार-भ्रमण के कारण स्वरूप मन, वचन और काय इन तीन योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।

समिति - जीवों की हिंसा से बचने के लिए प्रवृत्ति में यत्नाचार को समिति कहते हैं।

धर्म - जो आत्मा को संसार के दुःखों से छुड़ाकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त कराता है उसे धर्म कहते हैं।

अनुप्रेक्षा - शरीरादि के स्वरूप का बार-बार विचार करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

परीषहजय - भूख आदि की वेदना उत्पन्न होने पर कर्मों की निर्जरा के लिये उसे शांत भावों से सहन करने को परीषहजय कहते हैं।

चारित्र - कर्मों के आस्रव में कारणभूत आचरण का बाह्य और आभ्यंतर क्रियाओं के रोकने को चारित्र कहते हैं।

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ - (तपसा) तप से (निर्जरा) निर्जरा भी होती है (च) और संवर भी होता है।

विशेषार्थ - यद्यपि दस धर्मों में तप आ जाता है। फिर भी तप का अलग से ग्रहण यह बतलाने के लिये किया है कि तप से नवीन कर्मों का आना रुकता है और

पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा तप संवर का प्रधान कारण है।

यद्यपि तप को सांसारिक अभ्युदय में भी कारण बतलाया है किन्तु तप का प्रधान फल तो कर्मों का क्षय होना है और गौण फल सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति होना है। जैसे खेती का प्रधान फल तो धान उत्पन्न होना है और गौण फल पलाल (प्याल) वगैरह उत्पन्न होना है।

गुप्ति का लक्षण व भेद

सम्यग्योग-निग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थ - भले प्रकार से अर्थात् विषयाभिलाषा छोड़कर मन वचन काय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद हैं - मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

मनोगुप्ति- मन पर नियंत्रण, **वचनगुप्ति** - वचन पर नियंत्रण। **कायगुप्ति** - शरीर पर नियंत्रण।

समिति के भेद

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

अर्थ - ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना (उत्सर्ग) ये पाँच समितियाँ हैं।

ईर्यासमिति - गमन करते समय आगे की चार हाथ जमीन देखने का लक्ष्य रखना।

भाषा समिति - बोलते समय हित, मित और प्रिय पने का ध्यान रखना।

एषणासमिति - भोजन के विषय में शुद्धि और निर्दोषता का ध्यान रखना।

आदान निक्षेपणसमिति - पीछी और कमण्डलु आदि को रखते उठाते समय जीव रक्षा का ध्यान रखना।

प्रतिष्ठापनासमिति - मलमूत्र छोड़ते समय जीवरक्षा का लक्ष्य रखना।

धर्म के भेद

उत्तम-क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

अर्थ - उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन्य और उत्तमब्रह्मचर्य ये दस धर्म कहलाते हैं।

उत्तमक्षमा - क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करना।

उत्तममार्दव - उत्तम कुल, विद्या बल आदि का गर्व नहीं करना।

उत्तमआर्जव - मायाचार का त्याग करना।

उत्तमशौच - लोभ का त्याग कर आत्मा को पवित्र करना।

उत्तमसत्य - रागद्वेषपूर्वक असत्यवचन बोलने का त्याग करना।

उत्तमसंयम - इन्द्रियों और मन को वश में करना तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना।

उत्तमतप - बाह्य और आभ्यन्तर तप करना।

उत्तमत्याग - कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वाञ्छा के बिना चार प्रकार का दान देना।

उत्तमआकिञ्चन्य - पर पदार्थों में ममत्वरूप परिणामों का त्याग करना।

उत्तमब्रह्मचर्य - स्त्री मात्र का त्याग कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन होना।

अनुप्रेक्षाओं के बारह भेद

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्या-तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अर्थ - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) हैं।

अनित्यानुप्रेक्षा - संसार के समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष - बिजली अथवा जल के बुलबुले के समान शीघ्र नष्ट होने वाले हैं, ऐसा विचार अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरणानुप्रेक्षा - जिस प्रकार निर्जन वन में भूखे सिंह के द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को कोई शरण नहीं है उसी प्रकार इस संसार में मरते हुए जीव को वैद्य, डाक्टर आदि कोई शरण नहीं है। ऐसा विचार अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा - इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव पिता से पुत्र, पुत्र से पिता, स्वामी से दास, दास से स्वामी हो जाता है। और तो क्या, स्वयं अपना पुत्र हो जाता है, इत्यादि संसार के दुःखमय स्वरूप का विचार संसारानुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षा - जन्म, ज़रा, मरण, रोग आदि के दुःख प्रत्येक प्राणी अकेला ही भोगता है। कुटुम्ब आदि जन सहायक नहीं होते। इत्यादि विचार करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा - शरीरादि से अपने आत्मा को भिन्न चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा - यह शरीर महा अपवित्र है, खून, मांस आदि से भरा हुआ है, स्नान आदि से कभी पवित्र नहीं हो सकता। इससे सम्बन्ध रखने वाले दूसरे पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। इत्यादि शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा - मिथ्यात्व आदि भावों से कर्मों का आस्रव होता है, आस्रव ही संसार का मूल कारण है। इस प्रकार विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

संवरानुप्रेक्षा - आत्मा में नवीन कर्मों का एक क्षेत्रावगाह रुक जाना संवर है। संवर से ही जीवों का कल्याण होता है ऐसा विचार संवरानुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षा - सविपाक निर्जरा से आत्मा का कुछ भला नहीं होता किन्तु अविपाक निर्जरा से ही आत्मा का कल्याण होता है। इत्यादि निर्जरा के स्वरूप का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा - अनन्त लोकाकाश के ठीक बीच में रहने वाले चौदह राजु प्रमाण लोक के आकारादि का चिन्तवन करना लोकानुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा - रत्नत्रयरूप बोधि का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इस प्रकार विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा - जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ अहिंसा लक्षण वाला धर्म ही जीवों का कल्याण करने वाला है। इसके प्राप्त न होने से ही जीव चतुर्गति के दु:ख सहते हैं, इत्यादि विचार धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।

नोट - इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने वाला जीव उत्तम क्षमा आदि को पालता है और परीषहों को जीतता है। इसलिये इनका वर्णन धर्म और परीषहों के बीच में किया गया है।

परीषह सहन करने का उपदेश

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्या: परीषहा: ॥८॥

अर्थ - संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिये तथा कर्मों की निर्जरा के लिये परीषहों को सहना चाहिये।

परीषहों के भेद

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्याशय्या क्रोश-वध-याचनालाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञा ज्ञानादर्शनानि ॥९॥

अर्थ - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं।

क्षुधा - क्षुधा (भूख) के दु:ख को शांतभाव से सह लेना क्षुधा परीषहजय है।

तृषा - प्यास के दु:ख को शांतभाव से सह लेना तृषा परीषहजय है।

शीत - शीत की वेदना को शांतभाव से सहना शीत परीषहजय है।

उष्ण - गर्मी की वेदना को शांतभाव से सहना उष्ण परीषहजय है।

दंशमशक - डांश, मच्छर, चिवंटी आदि के काटने से उत्पन्न वेदना को शांतभाव से सहना दंशमशक परीषहजय है।

नाग्न्य - नग्न रहते हुए भी मन में किसी प्रकार का विकार नहीं करना नाग्न्य परीषहजय है।

अरति - अरति के कारण उपस्थित होने पर भी संयम में अरति (अप्रीति) नहीं होना अरति परीषहजय है।

स्त्री - स्त्रियों के हावभाव प्रदर्शन आदि उपद्रवों को शांतभाव से सहना, उन्हें देखकर मोहित नहीं होना स्त्री परीषहजय है।

चर्या - गमन करते समय खेद खिन्न नहीं होना, निर्भय रहना चर्या परीषहजय है।

निषद्या - ध्यान के लिये नियमित काल पर्यन्त स्वीकृत आसन से विचलित नहीं होना निषद्या परीषहजय है।

शय्या - विषम, कठोर, ककरीले, आदि स्थानों में एक करवट से निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आ जाने पर भी शरीर को चलायमान नहीं करना शय्यापरीषहजय है।

आक्रोश - दुष्ट जीवों के द्वारा कहे हुए कठोर शब्दों को सुनकर शांत रहना आक्रोश परीषहजय है।

वध - तलवार आदि के द्वारा शरीर पर प्रहार करने वालों से द्वेष नहीं करना वध परीषहजय है।

याचना - प्राणों का वियोग होने पर भी आहारादिक नहीं मांगना याचना परीषहजय है।

अलाभ - भिक्षा के प्राप्त नहीं होने पर भी संतोष धारण करना अलाभ परीषहजय है।

रोग - अनेक रोग होने पर भी उसकी वेदना को शांत भाव से सह लेना रोग परीषहजय है।

तृण स्पर्श - चलते समय पगों में तृण कण्टक वगैरह के चुभ जाने से उत्पन्न हुए दुःख को सहना तृण स्पर्श परीषहजय है।

मल परीषहजय - जलकायिक जीवों की हिंसा से बचने के लिए स्नान न करना तथा अपने मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना मल परीषहजय है।

सत्कारपुरस्कार - अपने में गुणों की अधिकता होने पर भी यदि कोई सत्कार पुरस्कार नहीं करे तो चित्त में कलुषता नहीं होना सत्कार पुरस्कार परीषहजय है।

प्रज्ञा - ज्ञान की अधिकता होने पर भी मान नहीं करना प्रज्ञा परीषहजय है।

अज्ञान - ज्ञानादिक की हीनता होने पर ओरों के द्वारा किए हुए तिरस्कार को शांतभाव से सह लेना अज्ञान परीषहजय है।

अदर्शन - बहुत समय तक कठोर तपश्चर्या करने पर भी विशेष ज्ञान या ऋद्धियों की प्राप्ति नहीं होने पर भी अश्रद्धान के भाव नहीं होना अदर्शन परीषहजय है।

नोट - इन बाईस परीषहों को संक्लेश रहित भावों से सह लेने से संवर होता है।

१०, ११, १२ वें गुणस्थान में परीषह

सूक्ष्म-साम्परायच्छद्मस्थ-वीतरागयोश्चतुर्दश ।।१०।।

अर्थ - सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थान में, छद्मस्थवीतराग (उपशांत मोह नामक ग्यारहवें) तथा क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में १४ परीषह होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान।

सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थान में परीषह

एकादश जिने ।।११।।

अर्थ - सयोगकेवली (तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले) जिनेन्द्र भगवान् के ग्यारह परीषह होते हैं। उक्त १४ परीषहों में से अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान को छोड़कर शेष ११ परीषह होते हैं।

नोट - जिनेन्द्र भगवान के वेदनीय कर्म का उदय रहता है इसलिये उसके उदय से होने वाले ११ परीषह उनके कहे गये हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय न होने से केवली को क्षुधादिक की वेदना नहीं होती। तथापि इन परीषहों का कारण वेदनीय कर्म मौजूद है। इसलिये उपचार से ११ परीषह कहे गये हैं। वास्तव में उनके एक भी परीषह नहीं होता है।

छठें से नवम गुणस्थान तक परीषह

बादरसाम्पराये सर्वे ।।१२।।

अर्थ - (बादरसाम्पराये) स्थूल कषाय वाले छठें से नवमें गुणस्थान तक के जीवों को (सर्वे) सभी परीषह होते हैं। क्योंकि इन गुणस्थानों में परीषहों के कारणभूत सभी कर्मों का उदय है।

ज्ञानावरण का उदय होने पर होने वाले परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।।१३।।

अर्थ - प्रज्ञा या अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होते हैं।

दर्शनमोह और अन्तराय का उदय होने पर होने वाले परीषह

दर्शन-मोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।।१४।।

अर्थ - अदर्शन परीषह दर्शनमोह का उदय होने पर और अलाभ परीषह अन्तराय कर्म का उदय होने पर होता है।

चारित्रमोह के उदय होने से होने वाले परीषह

चारित्र-मोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कार-पुरस्काराः ।।१४।।

अर्थ - नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय होने पर होते हैं।

वेदनीय के उदय से होने वाले परीषह

वेदनीये शेषाः ।।१६।।

अर्थ - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ये परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

एक साथ होने वाले परीषह

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ।।१७।।

अर्थ - (युगपत्) एक साथ (एकस्मिन्) एक जीव में (एकादयः) एक को आदि लेकर (आ एकोनविंशतेः) उन्नीस परीषह तक (भाज्याः) विभक्त करना चाहिये।

विशेषार्थ - एक जीव के एक काल में अधिक से अधिक उन्नीस परीषह हो सकते हैं। क्योंकि शीत और उष्ण इन दो परीषहों में से एक काल में एक ही होगा तथा शय्या, चर्या और निषद्या इन तीन में से भी एक काल में एक ही परीषह होगा। इस प्रकार तीन परीषह कम होते हैं।

चारित्र के भेद

सामायिकच्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थ - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये चारित्र के पाँच भेद हैं।

सामायिक चारित्र - सम्पूर्ण सावद्य योग के त्याग को सामायिक चारित्र कहते हैं। ये छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक के दिगम्बर मुनिराजों को होता है।

छेदोपस्थापना - प्रमादवश चारित्र में लगे दोष को प्रायश्चित्त के द्वारा दूर कर निर्दोष चारित्र धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। ये छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक के दिगम्बर मुनिराजों को होता है।

परिहारविशुद्धि - जिस चारित्र में जीव हिंसा का त्याग हो जाने से विशेष विशुद्धि प्राप्त होती है उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं।

परिहार विशुद्धि अत्यंत निर्मल चारित्र है जो अत्यंत धीर व उच्चदर्शी साधुओं को ही प्राप्त होता है। गृहस्थ अवस्था में तीस वर्षों को बिताकर फिर संयम ग्रहण किया उसके पश्चात् वर्ष पृथक्त्व से तीर्थंकर के पादमूल में प्रत्याख्यान नामक पूर्व को पढ़कर पुन: परिहार विशुद्धि संयम को प्राप्त कर और कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक रहकर देवों में उत्पन्न हुए जीव के उपर्युक्त काल प्रमाण कहना चाहिए। ये छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती दिगम्बर मुनिराजों को होता है।

सूक्ष्मसाम्पराय - अत्यंत सूक्ष्म लोभकषाय का उदय रहने पर जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहते हैं। ये दशवें गुणस्थानवर्ती दिगम्बर मुनिराजों को होता है।

यथाख्यात - सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थित होने को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। ये ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहें गुणस्थानवर्ती दिगम्बर मुनिराजों के तथा गुणस्थान से रहित सिद्ध परमेष्ठियों के भी होता है।

बाह्य तप के भेद

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तप: ॥१९॥

अर्थ - अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप के भेद हैं।

बाह्य तप - ये तप बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा होते हैं और इन तपों का पता दूसरों को भी लग जाता है इसलिये ये बाह्य तप कहे जाते हैं।

अनशन - संयम की वृद्धि के लिये चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशनतप है।

अवमौदर्य - रागभाव दूर करने के लिए भूख से कम भोजन करना अवमौदय तप है।

वृत्ति परिसंख्यान - भिक्षा को जाते समय घर, गली आदि का अट-पटा नियम लेना वृत्ति परिसंख्यानतप है।

रस परित्याग - इन्द्रियों का दमन करने के लिए घृत, दुग्ध आदि रसों का त्याग करना रस परित्यागतप है।

विविक्तशय्यासन - स्वाध्याय या ध्यान आदि की सिद्धि के लिये एकान्त तथा पवित्र स्थान में सोना, बैठना विविक्तशय्यासनतप है।

कायक्लेश - आरामतलबी की भावना दूर करने के लिये आतापनयोग आदि का धारण करना कायक्लेशतप है।

आभ्यन्तर तप के भेद

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ।।२०।।

अर्थ - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं।

आभ्यन्तर तप- ये तप मन को वश में करने के लिये किये जाते हैं इसलिये इन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं।

प्रायश्चित्त - प्रमोद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना।

विनय - रत्नत्रय वा उसके धारकों का आदर करना।

वैयावृत्य - शरीर वा अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करना।

स्वाध्याय - आलस्य त्याग कर ज्ञान की आराधना करना।

व्युत्सर्ग - बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना।

ध्यान - चित्त की चंचलता को रोककर उसे किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में लगाना।

आभ्यन्तर तपों के उत्तर भेद

नव-चतुर्दश-पञ्च-द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ।।२१।।

अर्थ - ध्यान से पहले के पाँच तपों के क्रम से ९, ४, १०, ५ और २ भेद हैं।

विशेषार्थ - प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयावृत्य के दस, स्वाध्याय के पाँच और व्युत्सर्ग के दो भेद हैं। इनके भेद अग्रिम सूत्रों में कहे जाते हैं।

प्रायश्चित्त तप के भेद

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापना: ॥२२॥

अर्थ - आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ये नौ प्रायश्चित्त तप के भेद हैं।

आलोचना - गुरु से अपना प्रमाद निवेदन करना।

प्रतिक्रमण - लगे दोषों पर पश्चात्ताप करना।

तदुभय - आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना।

विवेक - सदोष आहार तथा उपकरणों का नियमित समय तक त्याग करना।

व्युत्सर्ग - कुछ समय के लिये कायोत्सर्ग करना।

तप - उपवासादि करना।

छेद - एक दिन, एक पक्ष, महीना आदि की दीक्षा का भंग करना।

परिहार - कुछ समय के लिये संघ से पृथक् कर देना।

उपस्थापन - पुरानी सम्पूर्ण दीक्षा का छेद कर फिर से नवीन दीक्षा देना। यह प्रायश्चित्त संघ के आचार्य देते हैं।

विनय तप के चार भेद

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचारा: ॥२३॥

अर्थ - ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय ये चार विनय तप के भेद हैं।

ज्ञान विनय - आलस्य छोड़कर आदरपूर्वक योग्य काल में शास्त्र पढ़ना, अभ्यास करना आदि।

दर्शन विनय - शंका आदि दोष रहित श्रद्धान करना।

चारित्र विनय - चारित्र को निर्दोष रीति से पालना।

उपचार विनय - आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े होना, नमस्कार करना आदि।

वैयावृत्य तप के दस भेद

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष्य-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥

अर्थ - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनियों की सेवा टहल करना आचार्य वैयावृत्य आदि दस प्रकार की वैयावृत्य है।

आचार्य - जो मुनि पंचाचार का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरों से आचरण कराते हैं।

उपाध्याय - जिनके पास मुनिजन शास्त्राभ्यास करते हैं।

तपस्वी - तपस्या में संलग्न रहने वाले साधु।

शैक्ष्य - शिक्षा लेने वाले साधु।

ग्लान - रोगी साधु।

गण - वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले साधु।

कुल - दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य।

संघ - ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के समूह।

साधु - बहुत काल के दीक्षित साधु।

मनोज्ञ - लोक में ख्यातिप्राप्त साधु।

स्वाध्याय तप के पाँच भेद

वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

वाचना - निर्दोष ग्रंथ को, उसके अर्थ को तथा दोनों को भव्य जीवों को श्रवण कराना।

पृच्छना - संशय को दूर करने के लिये अथवा कृत निश्चय को द्रढ करने के लिये प्रश्न पूछना।

अनुप्रेक्षा - जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिंतवन करना।

आम्नाय - निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना।

धर्मोपदेश - धर्म का उपदेश करना।

व्युत्सर्ग तप के भेद

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

अर्थ - त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं - इसके दो भेद हैं -बाह्योपधि व्युत्सर्ग और आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग।

बाह्योपधि व्युत्सर्ग - धनधान्यादि बाह्य पदार्थों का त्याग करना।

आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग - क्रोध मान आदि खोटे भावों का त्याग करना। ये दो व्युत्सर्ग तप के भेद हैं।

ध्यान तप का लक्षण

उत्तम संहननस्यैकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

अर्थ - (उत्तम संहननस्य) उत्तम संहनन वाले का (अन्तर्मुहूर्तात्) अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त (एकाग्रचिन्तानिरोधः) एकाग्रता से चिन्ता का रोकना (ध्यानम्) ध्यान (कथ्यते) कहलाता है।

विशेषार्थ - किसी एक विषय में चित्त को रोकना ध्यान है वह उत्तम संहननधारी जीवों के ही होता है और एक पदार्थ का ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं होता।

ध्यान के भेद

आर्त्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ॥२८॥

अर्थ - आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं। इनमें आदि के दो ध्यान अशुभ हैं। उनसे पाप का बंध होता है। शेष ध्यान शुभ हैं। उनके द्वारा कर्मों का नाश होता है।

धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का फल

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

अर्थ - (परे) अन्त के धर्म्य और शुक्ल ध्यान (मोक्ष हेतू) मोक्ष के कारण (स्तः) हैं। धर्म्यध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है। आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं।

अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान का लक्षण

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहारः ॥३०॥

अर्थ - (अमनोज्ञस्य) विष, कांटा, शत्रु आदि अप्रिय वस्तु का (संप्रयोगे) संयोग होने पर (तद्विप्रयोगाय) उससे पीछा छुड़ाने के लिये (स्मृति समन्वाहारः) बार बार विचार करना अनिष्ट संयोगज नामक आर्तध्यान है।

इष्टवियोगज आर्तध्यान का लक्षण

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थ - (विपरीतं) विपरीत अर्थात् पुत्र, धन, स्त्री आदि प्रिय वस्तुओं का वियोग हो जाने पर (तत्संप्रयोगे) उनके मिलन होने के लिये (स्मृति समन्वाहार:) बार-बार चिन्तवन करना इष्ट वियोगज नामक आर्तध्यान है।

वेदनाजन्य आर्तध्यान का लक्षण

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थ - बात पित्त आदि के विकार से शरीर में कष्ट होने पर रात दिन उसी की चिन्ता करना वेदनाजन्य नामक आर्तध्यान है।

निदान आर्तध्यान का लक्षण

निदानं च ॥३३॥

अर्थ - भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर रात दिन आगामी भोगों को प्राप्त करने की ही चिन्ता करते रहना निदान नामक आर्तध्यान है।

गुणस्थानों की अपेक्षा आर्तध्यान के स्वामी

तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

अर्थ - वह आर्तध्यान अविरत (आदि के चार गुणस्थान), देशविरत पंचम गुणस्थान और प्रमत्तसंयत छठें गुणस्थान में होता है।

अर्थात् अनिष्ट संयोगज, इष्ट वियोगज और वेदनाजन्य ये तीन ध्यान प्रथम गुणस्थान से लेकर छठें गुणस्थान तक के जीवों को तथा निदानज नामक आर्तध्यान पांचवें गुणस्थान तक के जीवों को होता है। अर्थात् चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के ये ध्यान क्वचित् कदाचित् हो सकते हैं हमेशा नहीं रहते। परन्तु प्रथम आदि गुणस्थानों में ये सदैव पाये जाते हैं।

रौद्रध्यान के भेद व स्वामी

हिंसानृत-स्तेय-विषय-संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयोः ॥३५॥

अर्थ - हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहसंचय की भावना से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता है। वह अविरत आदि चार तथा देशविरत पाँच गुणस्थानों में होता है।

विशेषार्थ - निमित्त के भेद से रौद्र ध्यान हिंसानन्दी आदि चार प्रकार का होता है।

हिंसानन्दी - हिंसा में आनन्द मानकर उसी के साधन जुटाने का चिन्तवन करना।

मृषानन्दी - असत्य बोलने में आनन्द मानकर उसी का चिन्तवन करना।

चौर्यानन्दी - चोरी में आनन्द मानकर उसी का चिन्तवन करना।

परिग्रहानन्दी - परिग्रह की रक्षा का चिन्तवन करना।

धर्म ध्यान का स्वरूप व चार भेद

आज्ञापाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थ - धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय विपाकविचय और संस्थान विचय ये चार भेद हैं।

आज्ञाविचय - युक्ति और उदाहरण की गति न होने पर आगम की प्रमाणता से वस्तु के श्रद्धान का विचार।

अपायविचय - संसारी जीवों के दु:ख का तथा उससे छूटने के उपाय का चिन्तवन।

विपाकविचय - कर्म के फल का (उदय का) विचार।

संस्थानविचय - लोक के आकार का विचार।

स्वामी - यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी चढ़ने के पहले तक होता है। यह मत पूज्यपाद महाराज का है। श्री वीरसेन महाराज के मत से दशवें गुणस्थान तक धर्म ध्यान होता है।

आदि के दो शुक्ल ध्यानों के स्वामी

शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: ॥३७॥

अर्थ - आदि के दो पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के ही होते हैं। चकार से श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है। श्रेणी चढ़ने से पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी चढ़ने पर क्रम से दोनों शुक्लध्यान होते हैं।

पिछले दो शुक्लध्यानों के स्वामी

परे केवलिन: ॥३८॥

अर्थ - अन्त के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो शुक्लध्यान सयोगकेवली और अयोगकेवली के ही होते हैं।

शुक्ल ध्यान के चारों भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

अर्थ - पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं।

शुक्ल ध्यान के आलम्बन

त्र्येक-योग-काय-योगायोगानाम् ॥४०॥

अर्थ - शुक्लध्यान के चार भेद क्रम से तीन योग, एक योग, काययोग और योगरहित जीवों के होते हैं। अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्क ध्यान, मन, वचन, काय तीनों योगों के धारक के होता है। दूसरा एकत्ववितर्क - ध्यान तीन योगों में से किसी एक योग के धारक के होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान - केवल काययोग के धारक के ही होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योग रहित जीवों के होता है।

आदि के दो शुक्लध्यानों की विशेषता

एकाश्रये सवितर्क-वीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थ - आदि के दो शुक्लध्यान पूर्ण श्रुतज्ञानी के ही होते हैं तथा ये दोनों शुक्लध्यान वितर्क और वीचार कर सहित हैं।

एकत्ववितर्क शुक्लध्यान की विशेषता

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ - एकत्ववितर्क नामक दूसरा शुक्लध्यान वीचार रहित है।

पृथक्त्ववितर्क - जिसमें वितर्क और वीचार दोनों होते हैं उसे पृथक्त्ववितर्क नामक ध्यान कहते हैं।

एकत्ववितर्क - जो केवल वितर्क से सहित होता है उसे एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से जो ध्यान होता है उसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान कहते हैं। जिसमें आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द पैदा करने वाली स्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती हैं, (रुक जाती हैं) उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अर्थ - विशेष रूप से तर्क (वीचार) को वितर्क कहते हैं। अथवा श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योग-संक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थ - व्यञ्जन और योग की पलटना को वीचार कहते हैं।

विशेषार्थ - ध्यान योग्य द्रव्य वा पर्याय। व्यञ्जन = वचन। योग = मन वचन काय की क्रिया। संक्रांति - परिवर्तन।

अर्थ संक्रान्ति - ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात् ध्यान के विषय का कुछ बदलना अर्थसंक्रान्ति है।

व्यञ्जन संक्रान्ति - श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य का सहारा लेना। उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्य का सहारा लेना। इसी प्रकार ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यञ्जन संक्रान्ति कहते हैं।

योगसंक्रान्ति - काययोग को छोड़कर अन्ययोग का ग्रहण करना। उसे भी छोड़कर काययोग को ग्रहण करना योगसंक्रान्ति है। इन तीनों प्रकार की संक्रान्ति को वीचार कहते हैं। जिस ध्यान में इस तरह का वीचार होता है वह वीचार सहित है और जिसमें ऐसा वीचार नहीं होता वह वीचार रहित है।

पात्रों की अपेक्षा निर्जरा का क्रम

सम्यग्दृष्टिश्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टि, पञ्चमगुणस्थानवर्ती, श्रावक, महाव्रती (मुनि), अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, चारित्रमोह का उपशम करने वाला, उपशांत मोह वाला, क्षपकश्रेणि चढ़ता हुआ, क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थान वाला) और जिनेन्द्र भगवान् इन सबके परिणामों की विशुद्धता अधिक अधिक होने से एक से दूसरे के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

निर्गन्थ साधुओं के भेद

पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

अर्थ - पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु हैं।

पुलाक - जिसके उत्तरगुणों की तो भावना ही नहीं होती तथा किसी क्षेत्र व काल में मूलगुणों में भी दोष लगता है उसे पुलाक कहते हैं।

वकुश - जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है परन्तु अपने शरीर व उपकरणादि से कुछ स्नेह रखता है उसे वकुश कहते हैं।

कुशील - मुनि दो प्रकार के होते हैं - एक प्रतिसेवना कुशील और दूसरे कषायकुशील।

कर्म के क्षय के बाद होने वाला कार्य

तदनन्तर-मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥

अर्थ - समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद मुक्तजीव लोक के अन्तभाग पर्यन्त ऊपर को जाता है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन में चार कारण

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात् तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

अर्थ - पूर्व संस्कार से, सङ्गरहित होने से, कर्मबन्धन नष्ट होने से और तथा गतिपरिणाम (ऊर्ध्वगमन का स्वभाव) होने से मुक्तजीव ऊपर को जाता है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन में दृष्टान्त

आविद्धकुलाल-चक्रवद्-व्यपगतलेपालांबुवदेरण्ड-बीजवदग्नि शिखावच्च ॥७॥

अर्थ - जीव कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह, दूर हो गया है लेप जिसका ऐसी तुम्बी की तरह, कर्म-बंध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान, स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है।

१. मुक्त जीव, कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे कुम्भकार अपने चाक को घुमाकर छोड़ देता है, तब भी चाक पहले के भरे हुए वेग के वश से घूमता रहता है, उसी प्रकार जीव भी संसार अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिये बार बार अभ्यास करता रहता है। मुक्त होने पर यद्यपि उसका अभ्यास छूट जाता है। तथापि वह पहले के अभ्यास से ऊपर को गमन करता है।

२. मुक्त जीव, दूर हो गया है लेप जिसका ऐसी तुम्बी की तरह ऊपर को जाता है। जैसे तुम्बी पर जब तक मिट्टी या लेप रहता है तब तक वह वजनदार होने से पानी में डूबी रहती है, पर ज्यों ही उसकी मिट्टी गलकर दूर हो जाती है त्यों ही वह पानी के ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार यह जीव जब तक कर्मलेप से सहित होता है तब तक संसार समुद्र में डूबा रहता है पर ज्यों ही उसका कर्मलेप दूर हो जाता है त्यों ही यह ऊपर उठकर लोक के ऊपर पहुँच जाता है।

३. मुक्त जीव कर्मबंध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान ऊपर को जाता है। जैसे एरण्ड वृक्ष का सूखा बीज जब चटकता है तब उसकी मिट्टी ऊपर को ही जाती है उसी प्रकार यह जीव कर्मों का बंधन दूर होने पर ऊपर को जाता है।

४. मुक्त जीव स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे हवा के अभाव में अग्नि (दीपक आदि) की शिखा ऊपर को जाती है उसी प्रकार

कर्मों के बिना यह जीव भी ऊपर को जाता है।

मुक्तजीव के लोकाग्र से आगे न जाने का कारण

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अर्थ - धर्म द्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव लोकाग्रभाग के आगे (अलोकाकाश में) नहीं जाते। क्योंकि जीव और पुद्गलों का गमन धर्मद्रव्य की सहायता से ही होता है और अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव है।

मुक्त जीवों में परस्पर भेद के कारण

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थ - क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगों से सिद्धों में भी भेद साधने योग्य है।

क्षेत्र - कोई भरत क्षेत्र से, कोई ऐरावत क्षेत्र से और कोई विदेह क्षेत्र से सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा सिद्धों में भेद होता है।

काल और गति - कोई उत्सपिर्णी काल में सिद्ध हुए हैं और कोई अवसर्पिणी काल में कोई मनुष्यगति से सिद्ध हुए हैं। कोई देव या नरकगति से मनुष्य होकर सिद्धगति को प्राप्त हुए हैं। यह काल और गति कृत भेद है।

लिङ्ग - वास्तव में अलिङ्ग से ही सिद्ध होते हैं अथवा द्रव्य पुल्लिङ्ग से ही सिद्ध होते हैं। भाव लिङ्ग की अपेक्षा तीनों लिङ्गों से मुक्त हो सकते हैं।

तीर्थ - कोई तीर्थंकर काल में सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर के मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ (आम्नाय या शासनकाल) में सिद्ध होते हैं।

चारित्र - चारित्र की अपेक्षा कोई एक-एक से अथवा कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो-तीन चारित्र से सिद्ध होते हैं।

प्रत्येकबुद्धबोधित - कोई स्वयं संसार से विरक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं और कोई किसी के उपदेश से।

ज्ञान - कोई एक ही ज्ञान से और कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो, तीन, चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं।

अवगाहन- कोई जघन्य अवगाहना साढे तीन हाथ से सिद्ध होते हैं। कोई उत्कृष्ट पांच

सौ धनुष की अवगाहना से सिद्ध होते हैं।

अन्तर - एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय का है तथा विरह काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह माह का होता है।

संख्या - जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टता से १०८ जीव सिद्ध होते हैं तथा विदेहादि क्षेत्रों से सिद्ध होते हैं।

अल्पबहुत्व - क्षेत्रादि की अपेक्षा भेदों को प्राप्त जीवों की परस्पर संख्या का विशेष प्राप्त करना अल्पबहुत्व है। यथा- वर्तमान नय की अपेक्षा सिद्धिक्षेत्र में सिद्ध होने वाले जीवों का अल्पबहुत्व नहीं है।

इस प्रकार जीवों में बाह्यनिमित्त की अपेक्षा भेद की कल्पना की गई है। वास्तव में आत्मीय गुणों की अपेक्षा कुछ भी भेद (अन्तर) नहीं रहता।

प्रश्न - सिद्ध जीवों का अवगाहन कितना होता है ?

उत्तर - सिद्ध, जीवों का उत्कृष्ट अवगाहन सवा पाँच सौ धनुष और जघन्य अवगाहन तीन हाथ ऊँचा होता है।

॥ इति तत्त्वार्थ सूत्रे (मोक्षशास्त्रे) दशमोऽध्याय: ॥१०॥

❁❁❁

माता-पिता के अभ्यास कराने पर बालक विद्वान् होता है, गर्भ से निकलते ही पुत्र विद्वान् नहीं हो जाता।

जैसे कोई स्वप्न में अपने को राजा मानकर सुखी हो, उसी प्रकार अपने को भ्रम से सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनन्दितहोता है।

- मोक्षमार्ग प्रकाशक

जिस प्रकार रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चन्दन उत्कृष्ट है, उसी प्रकार धर्मों में संसार को नष्ट करने वाला जिनधर्म उत्कृष्ट है।

- आचार्य कुन्दकुन्द

बहार के चिह्नों से आदमी पुरुष नहीं हो सकता है, किन्तु जो अपने वचनों का पालन करता है वह पुरुष कहलाता है।

उसी पुत्र का जन्म सफल है, जिसके जन्म से वंश प्रसिद्ध हो (जैसे- गाँधी, नेहरु, सुभाष चन्द्र बोस आदि के जन्म से) क्योंकि इस परिवर्तनशील संसार में मरकर कौन उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् मरना और उत्पन्न होना तो यहाँ लगा ही रहता है, किसको कौन पूछता है ?

ग्रंथकार का लाघव प्रकाशन

अक्षरमात्र-पदस्वरहीनं, व्यञ्जन सन्धि विवर्जित-रेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे॥

अर्थ - इस शास्त्र में यदि कहीं अक्षर, मात्रा, पद या स्वरहीन हो, तथा व्यञ्जन, सन्धि व रेफ न हो तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करे। क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्र में कौन पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् भूल नहीं करता ? अर्थात् करता है।

इस ग्रंथ के पाठ का फल

दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य, भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

अर्थ - दश अध्यायों में विभक्त इस तत्त्वार्थ सूत्र (मोक्ष शास्त्र) के पाठ करने से श्रेष्ठ मुनियों ने एक उपवास का फल कहा है।

भावार्थ - जो मनुष्य भावपूर्वक पूर्ण मोक्षशास्त्र का पाठ करता है उसे एक उपवास का फल प्राप्त हो है।

तत्वार्थ सूत्र-कर्त्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामी-मुनीश्वरम्॥

अर्थ - गृद्धपिच्छ से युक्त तत्वार्थ सूत्र ग्रंथ के कर्ता, मुनिवृन्द से उपलक्षित ऐसे उमास्वामी मुनिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

पढम चउक्के पढमं, पंचमए जाण पुग्गलं तच्च।
छह सत्तमे हि आस्सव, अट्ठमे बंध णायव्वो॥
णवमे संवर णिज्जर, दहमे मोक्खं वियाणे हि।
इह सत्त तच्च भणियं, दह सुत्ते मुणिवरिं देहिं॥

अर्थ - प्रथम अध्याय से चार अध्याय तक जीव तत्त्व का वर्णन है, पाँचवें में पुद्गल अर्थात् अजीव तत्त्व का उल्लेख है, छठें और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का कथन है, आठवें में बंध तत्त्व का, नवमें में संवर तथा निर्जरा तत्त्व का प्ररूपण है तथा दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व को जानना चाहिये। इस प्रकार मुनि पुङ्गव के द्वारा दस अध्यायों में सात तत्त्व कहे हैं।

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणे जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं॥

अर्थ - जितनी शक्ति हो उतना ही करना चाहिये। यदि शक्ति न हो तो श्रद्धान करना चाहिये। क्योंकि श्रद्धावान जीव ही अजर-अमर पद को प्राप्त होता है।

तवयरणं वयधरणं, संजमसरणं च जीवदयाकरणम्।
अन्ते समाहिमरणं, चउगइ दुक्खं णिवारेई॥

अर्थ - तपश्चरण करो, व्रत धारण करो, संयम का आश्रय लो, जीवों पर दया करो तथा अन्त में समाधिमरण करने वाला चारों गतियों के दु:खों का निवारण करता है।

कोटिशतं द्वादशचैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव।
पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्य-मेतच्छ्रुतं पंचपदं नमामि॥

अर्थ - एक सौ बारह करोड़, तेरासी लाख, अट्ठावन हजार और पाँच प्रमाण इस श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ।

अरहंत-भासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं।
पणमाणि भत्तिजुतो, सुदणाणमहोवयं सिरसा॥

अर्थ - अरिहंत भगवान् द्वारा अर्थरूप से कहे गये और गणधर देव द्वारा ग्रंथ रूप से ग्रंथित किये गये श्रुतज्ञान रूप महासागर को भक्तिपूर्वक मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः।
चारित्रार्णवगम्भीरा, मोक्षमार्गोपदेशकाः॥

अर्थ - जो ज्ञान और दर्शन के नायक हैं, चारित्ररूपी सागर के समान गंभीर हैं और मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं - ऐसे श्रीगुरु/आचार्य हमारी सदा रक्षा करें।

ग्रन्थ समाप्ति

❁❁❁

माता-पिता के अभ्यास कराने पर बालक विद्वान् होता है, गर्भ से निकलते ही पुत्र विद्वान् नहीं हो जाता।

जैसे कोई स्वप्न में अपने को राजा मानकर सुखी हो, उसी प्रकार अपने को भ्रम से सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनन्दित होता है।

- मोक्षमार्ग प्रकाशक

तत्त्वार्थसूत्रम्

त्रैकाल्यं द्रव्य-षट्कं नवपदसहितं जीव षट्काय-लेश्याः,
पञ्चान्येचास्तिकाया-व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्रभेदाः।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्-भिरीशैः,
प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥

सिद्धे जयप्प-सिद्धे चउव्विहारा-हणाफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो ॥2॥
उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।
दंसण-णाण-चरित्तं तवाण-माराहणा भणिया ॥3॥
मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥4॥

प्रथम अध्याय

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥1॥ तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥2॥ तन्निसर्गा-दधिगमाद् वा ॥3॥ जीवाजीवास्रवबन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥4॥ नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ॥5॥ प्रमाण-नयैरधिगमः ॥6॥ निर्देश-स्वामित्व-साधना-धिकरण-स्थिति-विधानतः ॥7॥ सत्संख्याक्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प-बहुत्वैश्च ॥8॥ मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम् ॥9॥ तत्प्रमाणे ॥10॥ आद्ये परोक्षम् ॥11॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥12॥ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥13॥ तदिन्द्रिया-निन्द्रियनिमित्तम् ॥14॥ अवग्रहेहावाय-धारणाः ॥15॥ बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥16॥ अर्थस्य ॥17॥ व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥18॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥19॥ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥20॥ भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥21॥ क्षयोपशमनिमित्तः षड् विकल्पः शेषाणाम् ॥22॥ ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥23॥ विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥24॥ विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥25॥ मतिश्रुतयो-र्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥26॥ रूपिष्ववधेः ॥27॥ तदनन्तभागे मनः पर्ययस्य ॥28॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥29॥ एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥30॥ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥31॥ सदसतोरविशेषाद्-यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥32॥ नैगम-संग्रह-व्यवहा-रर्जु- सूत्र- शब्द- समभिरुढैवं-भूतानयाः ॥33॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

द्वितीय अध्याय

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिक-पारिणामिकौ च ॥1॥

द्वि-नवाष्टादशैक-विंशति- त्रिभेदा यथाक्रमम् ।।2।। सम्यक्त्वचारित्रे ।।3।। ज्ञान-दर्शन-दानलाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ।।4।। ज्ञानाज्ञानदर्शन-लब्धयश् -चतुस्-त्रि-त्रि पंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्र-संयमासंयमाश्च ।।5।। गतिकषायलिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेश्याश् चतुश् चतुस् त्र्येकैकैकैक- षड् भेदाः ।।6।। जीवभव्याभव्यत्वानि च ।।7।। उपयोगो लक्षणम् ।।8।। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।।9।। संसारिणो मुक्ताश्च ।।10।। समनस्कामनस्काः ।।11।। संसारिणस्त्रस-स्थावराः ।।12।। पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पतयः स्थावराः ।।13।। द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।।14।। पञ्चेन्द्रियाणि ।।15।। द्विविधानि ।।16।। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।।17।। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।18।। स्पर्शनरसनघ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि ।।19।। स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास् तदर्थाः ।।20।। श्रुतमनिन्द्रियस्य ।।21।। वनस्पत्यन्तानामेकम् ।।22।। कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैक-वृद्धानि ।।23।। संज्ञिनः समनस्काः।।24।। विग्रहगतौ कर्मयोगः ।।25।। अनुश्रेणि गतिः ।।2।। अविग्रहा जीवस्य ।।27।। विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।।28।। एकसमयाविग्रहा ।।29।। एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः ।।30।। सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ।।31।। सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।।32।। जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।।33।। देवनारकाणामुपपादः ।।34।। शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।।35।। औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजसकार्मणानि शरीराणि ।।36।। परं परं सूक्ष्मम् ।।37।। प्रदेशतोऽसंख्येय-गुणं प्राक् तैजसात् ।।38।। अनन्तगुणे परे ।।39।। अप्रतीघाते ।।40।। अनादि सम्बन्धे च ।।41।। सर्वस्य ।।42।। तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः।।43।। निरुपभोग-मन्त्यम् ।।44।। गर्भ-सम्मूर्च्छनज-माद्यम् ।।45। औपपादिकं वैक्रियिकम् ।।46।। लब्धिप्रत्ययं च ।।47।। तैजसमपि ।।48।। शुभं विशुद्ध-मव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।।49।। नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।।50।। न देवाः ।।51।। शेषास् त्रिवेदाः।।52।। औपपादिक-चरमोत्तम-देहासंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।।53।।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे द्वितीयोऽध्यायः ।।2।।

तृतीय अध्याय

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमः-प्रभा-भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ।।1।। तासु त्रिंशत्पंचविंशति-पंचदश-दश-त्रि-पंचोनैक-नरक-शत सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।।2।। नारका नित्याशुभतर-लेश्या परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ।।3।। परस्परोदीरित-दुःखाः ।।4।। संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।।5।। तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।।6।। जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।।7।। द्वि-र्द्वि-र्विष्कम्भाः

पूर्वपूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥8॥ तन्मध्ये मेरु-नाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्र-विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥9॥ भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावत-वर्षाः क्षेत्राणि ॥10॥ तद्-विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधर पर्वताः॥11॥ हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः ॥12॥ मणि-विचित्र-पार्श्वा उपरि मूले च तुल्य-विस्ताराः ॥13॥ पद्म-महापद्म-तिगिंछ-केशरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥14॥ प्रथमो योजन-सहस्रायामस्तदर्द्ध-विष्कम्भो ह्रदः ॥15॥ दशयोजनावगाहः ॥16॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥17॥ तद्-द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥18॥ तन्-निवासिन्यो देव्यः श्री-ह्री धृति कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥19॥ गङ्गा-सिन्धु-रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता-सीतासीतोदा-नारीनरकान्ता-सुवर्णरूप्यकूला-रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥20॥ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥21॥ शेषास्त्वपरगाः ॥22॥ चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः ॥23॥ भरतः षड् विंशतिपञ्चयोजन-शत-विस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥24॥ तद्द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥25॥ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥26॥ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥27॥ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥28॥ एक-द्वि-त्रि-पल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारि-वर्षक दैवकुरवकाः ॥29॥ तथोत्तराः ।30॥ विदेहेषु संख्येयकालाः॥31॥ भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥32॥ द्विर्धातकीखण्डे ॥33॥ पुष्करार्द्धे च ॥34॥ प्राङ्-मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥35॥ आर्या म्लेच्छाश्च ॥36॥ भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तर-कुरुभ्यः ॥37॥ नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥38॥ तिर्यग्योनिजानां च ॥39॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे तृतीयोऽध्यायः ॥3॥

चतुर्थ अध्याय

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥1॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥2॥ दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥3॥ इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्म-रक्षलोक-पालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः॥4॥ त्रायस्त्रिंशलोक पाल-वर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥5॥ पूर्वयो र्द्वीन्द्राः ॥6॥ काय-प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥7॥ शेषाः स्पर्श-रूपशब्द-मनः प्रवीचाराः ॥8॥ परेऽप्रवीचाराः ॥9॥ भवनवासिनोऽसुरनाग-विद्युत् सुपर्णाग्नि-वातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः ॥10॥ व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः॥11॥ ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥12॥ मेरु-प्रदक्षिणा नित्य-गतयो नृलोके ॥13॥ तत्कृतः कालविभागः ॥14॥ वहिरवस्थिताः ॥15॥ वैमानिकाः॥16॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥17॥ उपर्युपरि ॥18॥

सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयो र्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।।19।। स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः।।20।। गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः।।21।। पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि शेषेषु ।।22।। प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका ।।23।। सारस्वतादित्य-वह्न्यरुण गर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ।।24।। विजयादिषु द्विचरमाः ।।25।। औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।।26।। स्थितिरसुरनागसुपर्ण-द्वीपशेषाणां सागरोपमत्रि पल्योपमार्ध-हीनमिताः ।।27।। सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ।।28।। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ।।29।। त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ।।30।। आरणाच्युतादूर्ध्व-मेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ।।31।। अपरा पल्योपममधिकम् ।।32।। परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ।।33।। नारकाणां च द्वितीयादिषु ।।34।। दशवर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम् ।।35।। भवनेषु च ।।36।। व्यन्तराणां च ।।37।। परा पल्योपममधिकम् ।।38।। ज्योतिष्काणां च ।।39।। तदष्ट-भागोऽपरा ।।40।। लौकान्तिकाना-मष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।।41।।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे चतुर्थोऽध्यायः ।।4।।

पंचम अध्याय

अजीव-काया-धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।।1।। द्रव्याणि ।।2।। जीवाश्च ।।3।। नित्या-वस्थितान्यरूपाणि ।।4।। रूपिणः पुद्गलाः ।।5।। आ आकाशादेकद्रव्याणि ।।6।। निष्क्रियाणि च ।।7।। असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।।8।। आकाशस्यानन्ताः ।।9।। संख्येया-संख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।10।। नाणोः ।।11।। लोकाकाशेऽवगाहः ।।12।। धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।।13।। एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।।14।। असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ।।15।। प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।16। गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ।।17।। आकाशस्यावगाहः ।।18।। शरीर-वाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।।19।। सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ।।20।। परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।।21।। वर्तनापरिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वे च कालस्य ।।22।। स्पर्शरसगन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ।।23।। शब्दबन्धसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेद-तमश् छायातपोद्योतवन्तश्च ।24।। अणवः स्कन्धाश्च ।25।। भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ।26।। भेदादणुः।।27।। भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः।।28।। सद् द्रव्यलक्षणम् ।।29।। उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ।।30।। तद्भावाव्ययं नित्यम् ।।31।। अर्पितानर्पितसिद्धेः ।।32।।

स्निग्धरुक्षत्वाद्बन्धः ॥33॥ न जघन्य गुणानाम् ॥34॥ गुण-साम्ये सदृशानाम् ॥35॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥36॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥37॥ गुणपर्ययवद्-द्रव्यम्॥38॥ कालश्च ॥39॥ सोऽनन्तसमयः ॥40॥ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥41॥ तद्भावः परिणामः ॥42॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥5॥

षष्ठ अध्याय

कायवाङ्मनः कर्म योगः ॥1॥ स आस्रवः ॥2॥ शुभः पुण्यस्याशुभःपापस्य ॥3॥ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥4॥ इन्द्रिय-कषायाव्रतक्रियाः पञ्च चतुः पञ्च पञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥5॥ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरण वीर्यविशेषेभ्यस्तद्-विशेषः ॥6॥ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥7॥ आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत-कषाय-विशेषैस्-त्रिस्-त्रिस्-त्रिश्-चतुश् चैकशः ॥8॥ निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा-द्विचतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम् ॥9॥ तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शना-वरणयोः ॥10॥ दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥11॥ भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सरागसंयमादि-योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥12॥ केवलि-श्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥13॥ कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥14॥ बह्वारम्भ- परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥15॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥16॥ अल्पारम्भ -परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥17॥ स्वभाव-मार्दवं च ॥18॥ निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥19॥ सराग-संयम-संयमासंयमाकाम-निर्जराबालतपांसि दैवस्य॥20॥ सम्यक्त्वं च ॥21॥ योग-वक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥22॥ तद्विपरीतं शुभस्य ॥23॥ दर्शन-विशुद्धि-विनय-संपन्नता शील-व्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग -संवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी-साधु-समाधि-वैयावृत्य-करणमर्हदाचार्य-बहुश्रुतप्रवचन-भक्तिरावश्यकापरिहाणि-मार्गप्रभावना-प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥24॥ परात्म निन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचै गोंत्रस्य॥25॥ तद्विपर्ययो नीचै र्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।26। विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥27॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे षष्ठोऽध्यायः ॥6॥

सप्तम अध्याय

हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरति र्व्रतम् ॥1॥ देश-सर्वतोऽणु-महती ॥2॥ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥3॥ वाङ्-मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण-समित्यालोकितपान-

भोजनानि पञ्च ।।4।। क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।।5।। शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च ।।6।। स्त्रीराग कथाश्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ।।7।। मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।।8।। हिंसादिष्विहामुत्रापाया-वद्यदर्शनम् ।।9।। दुःखमेव वा ।।10।। मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु ।।11।। जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।।12।। प्रमत्त-योगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ।।13।। असदभिधानमनृतम् ।।14।। अदत्तादानं स्तेयम् ।।15।। मैथुनमब्रह्म ।।16।। मूर्छा परिग्रहः ।।17।। निःशल्यो व्रती ।।18।। अगार्यनगारश्च ।।19।। अणुव्रतोऽगारी ।।20।। दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।।21।। मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।।22।।शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसा संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।।23।। व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।।24।। बन्ध-वधच्छेदातिभारारोपणान्न-पाननिरोधाः ।।25।। मिथ्योपदेश रहोभ्या-ख्यान-कूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्र-भेदाः ।।26।। स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ।।27।। परविवाहकरणेत्व-रिका-परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-क्रीडा-काम-तीव्राभिनिवेशाः ।।28।। क्षेत्रवास्तु-हिरण्य- सुवर्ण-धनधान्य-दासी-दास-कुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।।29।। ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।।30।। आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ।।31।। कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप-भोगपरिभोगानर्थक्यानि ।।32।। योगदुष्प्रणि-धानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ।।33।। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणा-नादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ।।34।। सचित्त सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहाराः ।।35।। सचित्त-निक्षेपा-पिधान- परव्यपदेश-मात्सर्य्य-कालातिक्रमाः ।।36।। जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ।।3।। अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।।38।। विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ।।39।।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे सप्तमोऽध्यायः ।।7।।

अष्टम अध्याय

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ।।1।। स कषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।।2।। प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास् तद्विधयः ।।3।। आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायु-र्नाम-गोत्रान्तरायाः।।4।। पञ्चनव-द्व्यष्टा-विंशति-

चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च-भेदा यथाक्रमम् ॥5॥ मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानाम् ॥6॥ चक्षुरचक्षुरवधि - केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च ॥7॥ सदसद्-वेद्ये ॥8॥ दर्शन-चारित्र-मोहनीयाकषाय-कषाय-वेदनीयाख्यास्-त्रिद्वि-नव-षोडश भेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसक-वेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥9॥ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥10॥ गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघात-परघातातपो-द्योतोच्छ्वास-विहायो गतयः प्रत्येक-शरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥11॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥12॥ दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥13॥ आदितस्-तिसृणा-मन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटी-कोट्यः परा स्थितिः ॥14॥ सप्तति-र्मोहनीयस्य ॥15॥ विंशतिर्नामगोत्रयोः॥16॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥17॥ अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥18॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥19॥ शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥20॥ विपाकोऽनुभवः ॥21॥ स यथानाम ॥22॥ ततश्च निर्जरा ॥23॥ नाम प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त प्रदेशाः ॥24॥ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।25। अतोऽन्यत्पापम् ॥26॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे अष्टमोऽध्यायः ॥8॥

नवमाध्याय

आस्रवनिरोधः संवरः ॥1॥ स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः ॥2॥ तपसा निर्जरा च ॥3॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥4॥ ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥5॥ उत्तमक्षमामार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-किञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥6॥ अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्म स्वाख्यातत्त्वानुचिन्तन-मनुप्रेक्षाः ॥7॥ मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥8॥ क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचना लाभरोगतृणस्पर्शमल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥9॥ सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थ-वीतरागयोश्चतुर्दश ॥10॥ एकादश जिने ॥11॥ बादरसाम्पराये सर्वे ॥12॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥13॥ दर्शन-मोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥14॥ चारित्र-मोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचनासत्कारपुरस्काराः ॥15॥ वेदनीये शेषाः ॥16॥ एकादयो भाज्यायुगपद् एकस्मिन्-नैकोन-विंशतेः॥17॥ सामायिकच्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय

यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥18॥ अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥19॥ प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय- व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ॥20॥ नवचतुर्दश-पञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥21॥ आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥22॥ ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः ॥23॥ आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥24॥ वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥25॥ बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥26॥ उत्तम संहनन-स्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥27॥ आर्त्तरौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ॥28॥ परे मोक्ष-हेतू ॥29॥ आर्त-ममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहारः ॥30॥ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥31॥ वेदनायाश्च ॥32॥ निदानं च ॥33॥ तदविरत- देशविरत -प्रमत्त-संयतानाम् ॥34॥ हिंसानृतस्तेय-विषय-संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयोः ॥35॥ आज्ञापाय -विपाक -संस्थान-विचयाय धर्म्यम् ॥36॥ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥37॥ परे केवलिनः ॥38॥ पृथक्त्वैकत्व-वितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥39॥ त्र्येकयोग-काय-योगायोगानाम् ॥40॥ एकाश्रये सवितर्क-वीचारे पूर्वे ॥41॥ अवीचारं द्वितीयम् ॥42॥ वितर्कः श्रुतम् ॥43॥ वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन योगसंक्रान्तिः ॥44॥ सम्यग् दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥45॥ पुलाकवकुशकुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ॥46॥ संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥47॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे नवमोध्यायः ॥9॥

दशम अध्याय

मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम् ॥1॥ बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः ॥2॥ औपशमिकादि-भव्यत्वानां च ॥3॥ अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः ॥4॥ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥5॥ पूर्वप्रयोगाद् असङ्गत्वाद्-बन्धच्छेदात्-तथागतिपरिणामाच्च ॥6॥ आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपा-लाम्बुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च॥7॥ धर्मास्तिकायाभावात् ॥8॥ क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग तीर्थ- चारित्र- प्रत्येकबुद्धबोधित- ज्ञानावगाहनान्तर- संख्याल्प - बहुत्वतः साध्याः ॥9॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे दशमोऽध्यायः ॥10॥

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं, व्यञ्जन-संधिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्रमम क्षमितव्यं,को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥1॥
दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य , भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥2॥

तत्त्वार्थ- सूत्रकर्तारं, गृद्ध- पिच्छोप- लक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्र- संजात, मुमास्वामी मुनीश्वरम् ॥3॥
पढम चउक्के पढमं, पंचमए जाण पुग्गलं तच्च ।
छह सत्तमे हि आस्सव, अट्ठमे बंध णायव्वो ॥4॥
णवमे संवर णिज्जर, दहमे मोक्खं वियाणे हि ।
इह सत्त तच्च भणियं, दहसुत्ते मुणिवरिं देहिं ॥5॥
जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं ।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं ॥6॥
तवयरणं वयधरणं, संजमसरणं च जीवदयाकरणम् ।
अन्ते समाहिमरणं, चउ गइ दुक्खं णिवारेई ॥7॥
कोटिशतं द्वादशचैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव।
पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्य, मेतच्छुतं पंचपदं नमामि॥8॥
अरहंत भासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवयं सिरसा ॥9॥
गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः ।
चारित्रार्णवगम्भीरा, मोक्षमार्गोप-देशकाः ॥10॥
॥ इति तत्त्वार्थसूत्रम् ॥

सरस्वती का अर्घ

जलचन्दन अक्षत फूल चरु, अरु दीपधूप अति फल लावै ।
पूजा को ठानत जो तुम जानत, सो नर द्यानत सुख पावै ॥
तीर्थंकर की ध्वनि गणधर ने सुनी अंग रचे चुनिज्ञानमई ।
सो जिनवर वानी शिव सुख दानी, त्रिभुवन मानी पूज्य भई ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतसरस्वतीदेव्यै अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

आचार्य श्री विद्यासागर जी का अर्घ

जग के वैभव कोपाकर मैं, निश दिन कैसा अलमस्त रहा ।
चारों गतियों की ठोकर को, खाने में ही अभ्यस्त रहा ॥
मैं हूँ स्वतन्त्र ज्ञाता दृष्टा, मेरा पर से क्या नाता है ।
कैसे अनर्घ पद पा जाऊँ, यह अरुण भावना भाता है ॥

ॐ ह्रीं 108 आचार्य श्रीविद्यासागर मुनीन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्व. स्वाहा।

श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति बरेला
जबलपुर से प्रकाशित साहित्य

क्र.सं.	साहित्य	मूल्य	क्र.सं.	साहित्य	मूल्य
1.	जिन-भारती संग्रह (जिनवाणी-संग्रह)	45.00	41.	जैन धर्म प्रवेशिका-1,2,3	7.00
2.	नित्य-पूजा	15.00	42.	जैन धर्म प्रवेशिका भाग-4	10.00
3.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार	20.00	43.	भक्तामर गीता	10.00
4.	पञ्च-अमृत	15.00	44.	भक्तामर स्तोत्र (प्रश्नोत्तरी)	20.00
5.	स्वयम्भू-स्तोत्र	15.00	45.	श्री धन्यकुमार चरित्र	10.00
6.	जिन-पूजा (पॉकेट साइज)	15.00	46.	यागमण्डल पंचकल्याणक पूजन	20.00
7.	छहढाला प्रश्नोत्तर प्रदीप	15.00	47.	यागमण्डल विधान	5.00
8.	श्रावक प्रतिक्रमण	7.00	48.	पंचकल्याणक विधान	5.00
9.	द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तर-प्रदीप	8.00	49.	अतीत	30.00
10.	समवशरण विधान	25.00	50.	माँ	60.00
11.	रत्नकरण्डश्रावकाचार	8.00	51.	विद्याधर से विद्यासागर	20.00
12.	जिन-स्तोत्र निकुञ्ज	20.00	52.	पद्म पुराण	30.00
13.	शील-मञ्जूषा	20.00	53.	माटी का सौरभ	12.00
14.	समयसार (पॉकेट साइज)	15.00	54.	सहस्रनाम स्तोत्र	15.00
15.	सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर प्रदीप-1,2	5.00	55.	शास्त्रसार समुच्चय	15.00
16.	सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर प्रदीप-3	5.00	56.	भजन और आरती	20.00
17.	सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर प्रदीप-4	12.00	57.	चौबीसी विधान	20.00
18.	धर्मध्यान	40.00	58.	चौबीस ठाणा	15.00
19.	समाज निर्माण में महिलाओं का योगदान	20.00	59.	सिद्धचक्र विधान	40.00
20.	आराधना (पाकेट साईज)	5.00	60.	श्रेष्ठतम कहानियाँ	15.00
21.	तत्वार्थ सूत्र सार्थ (पाकेट साईज)	5.00	61.	इष्टोपदेश (पॉकेट साईज)	7.00
22.	भक्ति पाठ (पाकेट साईज)	8.00	62.	भक्तामर स्तोत्र (गुटका)	10.00
23.	परमात्म-गीतिका	10.00	63.	कातन्त्र रूपमाला उत्तार्ध	200.00
24.	स्तुति-निकुञ्ज	12.00	64.	कातन्त्र रूपमाला पूर्वार्ध	200.00
25.	नवग्रह विधान	12.00	65.	नानी की कहानियाँ	10.00
26.	भक्तामर विधान	15.00	66.	सुबोध संस्कृत भारती	30.00
27.	विद्या-भारती 1,2,3,4(प्रत्येक)	12.00	67.	श्रावक चर्या (पॉकेट साईज)	15.00
28.	रयण -मञ्जूषा (पॉकेट साईज)	7.00	68.	वह कौन सा शास्त्र है ?	15.00
29.	कर्तव्य बोध	8.00	69.	दैनिक जैनधर्म-चर्या	12.00
30.	शान्ति विधान	12.00	70.	भोगोपभोग परिमाण विधि	7.00
31.	पञ्च परमेष्ठी विधान	12.00	71.	कथा तीर्थंकरों की	20.00
32.	अमृत वचन	5.00	72.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा ...	12.00
33.	दिनचर्या	15.00	73.	जिन अर्चना	10.00
34.	अन्तर्दीप	20.00	74.	सुप्रभात स्तोत्र	12.00
35.	करणानुयोग दीपक-1,2,3 प्रत्येक	12.00	75.	तिलोय पण्णत्ती (प्रश्नोत्तर प्रदीप)	20.00
36.	तत्वार्थ सूत्र (मोक्षशास्त्र)	20.00	76.	नाममालादि शब्दकोश	15.00
37.	मोक्षमार्ग की सच्ची कहानियाँ	7.00	77.	पञ्च ब्रह्मविज्ञान	15.00
38.	चौसठ ऋद्धि विधान	12.00	78.	अमृत भारती	60.00
39.	जैन भूगोल	5.00	79.	कल्पद्रुम विधान	50.00
40.	संयम साधनासार	20.00	80.	दसधर्म स्कन्ध	25.00